

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 14 अंक 3

जनवरी-मार्च 2017

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपए
अन्दर कवर	15,000.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : [asthabharati1@gmail.com](mailto:asthabharati1@gmail.com)

वेब साइट : [asthabharati.org](http://asthabharati.org)

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## विषय-क्रम

---

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. इक्कीसवीं सदी में गाँधी रमेशचन्द्र शाह	7
2. बच्चों का व्यवहार ठीक करने के लिए जरूरी है कि पहले बड़े अपना व्यवहार ठीक करें सीताराम गुप्ता	17
3. कुशलता और कौशल की अवधारणा आनन्द प्रकाश, अनीश मिश्र	22
4. ललित निबंध निज कवित्त केहि लाग न नीका श्रीराम परिहार	28
5. चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता सुनील बाबुराव कुलकर्णी	34
6. प्रकृति-सम्पृक्त भारतीय धर्म-परम्परा (श्रीमती) विनय षडंगी राजाराम	52
7. भारतीय दर्शन : रहस्यवाद नरेश कुमार अम्बष्टा	66
8. चित्र-विचित्र माधुरी नाथ	73
चिन्तन-सृजन, वर्ष-14, अंक-3	3

9.	महावीर और गाँधी की समानान्तर धर्म-दृष्टि <i>श्रीरंजन सूरिदेव</i>	81
10.	सन्त रैदास आज के सन्दर्भ में <i>जिया लाल आर्य</i>	85
11.	हिन्दू धर्म में राम <i>केशीकान्त शकुन</i>	89
12.	मूल्य : बहुकोणीय विवेचन <i>प्रदीप जुगरान</i>	94
13.	आलेख पण्डित विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध 'छितवन की छाँह' में लोक-संस्कृति का सौन्दर्य <i>शिवनारायण</i>	98
14.	भारतीय सेक्युलरवाद के मायने <i>निशीथ राय</i>	108
15.	अल्लामः इकबाल का एक रूप यह भी <i>कृपाशंकर सिंह</i>	113
16.	नवलेखन की चुनौतियाँ : अभिप्राय और आयाम <i>नन्दलाल मेहता 'वागीश'</i>	119
17.	समीक्षा “आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी” <i>एम.एल. खरे</i>	125
18.	पुस्तक-समीक्षा प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका <i>कृष्ण वीर सिंह सिकरवार</i>	127
	पाठकीय प्रतिक्रिया	129
	प्राप्ति-स्वीकार	130



## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

2017 के चुनाव: राजनीति बदलाव की दिशा और दशा

पिछले दिनों हुए पाँच राज्यों के विधान सभाओं के चुनाव परिणाम देश की राजनीति में आए महत बदलाव की दिशा एवं दशा की तरफ इंगित करते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

- जनता ने परिवारवाद की राजनीति को बहुत हद तक नकारा है।
- उसी प्रकार जाति आधारित राजनीति का निषेध भी हुआ है।
- इस चुनाव में व्होट बैंक की राजनीति की बड़ी हार हुयी है।
- जनता का झुकाव एक हद तक अपराधी उम्मीदवारों को नकारने का रहा है।
- चुनाव परिणाम, विशेषतः उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड के चुनाव परिणाम, इस बात का संकेत देते हैं कि सचेत जनमत ने एकजूट होकर ऐसी सरकार कि लिए मतदान किया है, जो निर्बाध तरीके से अपना काम कर सके।
- इस चुनाव के परिणाम जनता की राजनीतिक परिपक्वता का संकेत देते हैं।
- इस चुनाव में सामाजिक विभाजन की राजनीति को अस्वीकृति मिली है।
- जनता ने इस चुनाव में सार्थक पहल करने वाले राजनीतिक दलों/नेताओं को स्वीकार किया है, और ऐसे दलों/नेताओं को नकारा है जिनकी पहल, जिनकी सोच, नकारात्मक रही है, या जिन्होंने विकास एवं प्रशासन का कार्य ठीक से नहीं किया।
- इस चुनाव में जनता ने प्रधानमंत्री की कर्मठता उनके कार्य, उनकी पहल को अभूतपूर्व समर्थन दिया है। फिर इसमें भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष एवं कार्यकर्ताओं एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का योगदान तो रहा ही है।
- इस देश में प्रचारतंत्र/मीडिया एवं बौद्धिकों का एक वर्ग लगातार भावनात्मक बातों को उठाकर या गलत प्रचार द्वारा भ्रम फैलाने का काम करता रहा है। जनता उनके बहकावे में नहीं आयी जो उसकी राजनीतिक परिपक्वता का परिचायक है।

यह देश पिछले कुछ समय से नीतिगत पहल के क्षेत्र में जड़ता का शिकार रहा है, जो बड़ी घातक बात रही है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इस जड़ता को लगातार तोड़ा है। उनकी कई पहल ऐसी हुई हैं, जिसका तत्काल प्रभाव दिखने लगा है; कई समय-साध्य हैं। फिर ऐसी पहल के क्षेत्र में आवश्यक नहीं की पूरी सफलता का

भरोसा हो, तभी पहल की जाय। जोखिम उठाकर पहल करने की क्षमता भारत जैसे महान देश के नेता में तो होनी ही चाहिए; जैसा कि प्रधानमंत्री ने नोट-बंदी की पहल करके दिखाया है। और फिर तमाम आलोचनाओं के होते हुए भी, जनता ने उनका समर्थन किया।

मोटे तौर पर कहा जाय तो इस चुनाव के परिणाम ने इस देश की जनता को आश्वस्त किया है, लोग खुश हैं। आखिर लोग उस दल को अपना मत क्यों दें जो किसी बेहद नासमझ नेता को अपने माथे पर लादे घूमते रहते हैं; उस नेता को जो लगातार बचकानी हरकत करता है, जिसे देश और उसकी समस्याओं की समझ नहीं। जो ऐसे व्यक्ति से मिलने तथा उसका पृष्ठ-पोषण करने दौड़ पड़ता है, जो देश तोड़ने के नारे लगाता है। आशा है कि इस चुनाव से निकले संकेत से शिक्षा लेकर राजनीतिक दल अपनी सोच, एवं अपनी कार्य-पद्धति में बदलाव लायेंगे; देश की राजनीतिक संस्कृति में अपेक्षित बदलाव लाने की पहल होगी। जहाँ तक भाजपा का सवाल है, राज्य सभा में उसकी स्थिति सुधरेगी; फिर राष्ट्रपति के चुनाव की उसकी पहल आसान होगी।

फिर भाजपा द्वारा मुख्यमंत्रियों के चुनाव से दो संकेत निकलते हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक है। पहला यह कि योगी आदित्यनाथ का चुनाव यह कड़ा संकेत देता है कि चुनी हुई पार्टी का अपना एजेण्डा होता है, वह विरोधियों के एजेण्डा की पूर्ति के लिए चुनकर नहीं आयी है। दूसरा कि अपेक्षाकृत अनजान व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाकर दल के अंदर की खेमेवाली को नियंत्रित किया जा सकता है।

— ब्रज बिहारी कुमार

## इक्कीसवीं सदी में गाँधी

रमेशचन्द्र शाह\*

दो अनमेल संस्कृतियों की टकराहट खच्चर सरीखे बाँझपन को जन्म देती है—ऐसा पिछली सदी के एक महाकवि येट्स का कहना था। उसे जहाँ एक ओर भारतीय संस्कृति के जीवन्त प्रतिनिधियों से जबर्दस्त प्रेरणा मिलती थी—वहीं दूसरी तरफ स्वयं भारतीय बुद्धिजीवियों का पाश्चात्य संस्कृति के प्रति हीनभाव ग्रस्त नकलचीपन उसे विस्मित-विशुब्ध करता था। वह स्वाधीनता-संग्राम का दौर था, जब एक-से-एक विभूतियाँ हमारे बीच मौजूद थीं। आज वह फसल सूख चुकी है। कोई गाँधी, कोई अरविन्द अब हमारे बीच अवतरित होने से रहा। पर हम इस तरह सोचें ही क्यों? एक साधारण भारतीय, एक साधारण यूरोपीयन या साधारण चीनी-जापानी के बरक्स कहाँ खड़ा है—यह क्यों नहीं पूछते? आखिर महात्मा गाँधी इस जनसामान्य के साधारण जनता के ही तो प्रतिनिधि थे। भारत के समूचे इतिहास में जनसामान्य का उन सरीखा प्रभावशाली प्रतिनिधि और नेता कभी कोई हुआ? तब फिर?

यह हमारा सार्वजनिक दुर्भाग्य है कि समकालीन राजनीति में ही नहीं, शिक्षा, प्रशासन और संस्कृति के क्षेत्रों में भी घटिया लोगों का बढ़ता वर्चस्व हमारे भ्रष्टाचार-लिप्त चरित्र की ही पुष्टि करता प्रतीत हो रहा है। अक्सर लगता है कि हम किस भारतीय संस्कृति की बात कर रहे हैं? सत्य, तप, आवर्ती काल, अहिंसा, करुणा, आन्तरिक स्वाधीनता जैसे मूल्य, जो सदियों-सहस्राब्दियों तक इस देश की रीढ़ बने रहे, वे आज हमारे आचरण में, सामूहिक जीवन में, कहाँ तक प्रभावी हैं? कुशल तो हर तरफ विपरीत ही जान पड़ती है। धर्म, जो हमारे लोक-जीवन का नियामक रहा; अध्यात्म, जिसने हमें अतुलनीय आन्तरिक स्वाधीनता और खुलापन दिया; और घोर पराधीनता के लम्बे दौर में भी—आत्मविस्मृति और रूढ़िग्रस्तता की दलदल के बीचोबीच भी—हमें अपनी पहचान खोने से बचाए रखा, वह आज हमारे प्रबुद्ध वर्गों में अर्थात्—नेताओं-अफसरों-पूँजीपतियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों में भी कहीं भी क्रियाशील

---

सम्पर्क : एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड (दुष्यन्त मार्ग), भोपाल-462003 (म.प्र.)

दिखता है क्या? रहा साहित्य, उसमें भी न हमारी आस्था दिखती है, न अनास्था। न हमारे भीतर जो आध्यात्मिक सूनापन और उजाड़ घर करता जा रहा है, उसी का सन्ताप दिखता है। यहाँ तक कि हमारी क्या चिन्ता होनी चाहिए, यह चिन्ता भी नहीं दिखती। शिक्षकों तथा साहित्यिकों-पत्रकारों का आचरण भी जनसाधारण के लिए प्रेरणाप्रद और मार्गदर्शक नहीं प्रतीत होता। उल्टे, अक्सर यही लगने लगता है कि इस व्यापक मूल्य-भ्रंश या कहें मूल्यमूढ़ता का संक्रमण तो उन्हीं को सबसे ज्यादा व्याप रहा है। दहशत होती है देखकर, कि हमारा अधिसंख्य बुद्धिजीवी वर्ग—हमारा प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील और मीडियामैन यानी पत्रकार तक वास्तविक सामाजिक संवेदना से इस कदर शून्य, अपने व्यवसाय-स्वधर्म के न्यूनतम मापदण्डों से भी इतना नीचे गिरा हुआ तथा नैतिक आध्यात्मिक दृष्टि से इतना दरिद्र हो सकता है।

निश्चय ही ये लक्षण अच्छे नहीं हैं। स्वतन्त्रता की दहलीज पर ही महात्मा गाँधी ने जो बात इस कदर साफगोई के साथ कह दी थी—वह आज किस कदर सच्ची साबित हो रही है? उन्होंने कहा था—“इस देश का कठोर हृदय बुद्धिजीवी मेरे जीवन का सबसे लम्बा दुःस्वप्न रहा है और आगे भी इस दुःस्वप्न की परछाई और लम्बी खिंचती जानी है।” राजनीति में ऐसा कड़वा सच इस तरह बोल देना आसान नहीं होता।

इतना ही नहीं, दूसरी तरफ हमें यह भी याद होना चाहिए कि उन्हीं गाँधी जी ने चालीस के दशक में अपनी ‘हिमालयी मूल’ (ब्लण्डर) का सार्वजनिक स्वीकार करते हुए क्या कहा था? उन्होंने कहा था कि “उन्होंने जो अपने लोगों को अहिंसा के उच्चतम मानदण्डों पर खरा उतरने लायक चरित्र का धनी माना-समझा—वह उनकी बड़ी भारी गलती थी। भ्रान्ति थी।” हालाँकि यहाँ पर तस्वीर का दूसरा पहलू भी आँखों से ओझल नहीं होना चाहिए। औसत आदमी की क्षमता को ध्यान में रख के कोई संस्कृति नहीं चल सकती। सभी संस्कृतियों की चालक शक्ति उच्चतम आदर्शों से ही परिचालित और निर्धारित होती है। कैसे कहें सारे ऋषि-मुनि गलत थे? और वह सभ्यता भी गलत थी—जिसने एक तरफ आदर्श की पराकाष्ठा स्वरूप रामायण रची और दूसरी तरफ घोर यथार्थवादी महाभारत? हमें उपनिषद् भी चाहिए और पंचतन्त्र-हितोपदेश भी। उधर पश्चिम में प्लेटो के बाद ‘ज्ञान’ अपनी समग्रता से हटकर—यानी आत्मज्ञान के लक्ष्य से विचलित होकर एक ओर वस्तुलक्षी साइन्स की दिशा पकड़ लेता है और दूसरी ओर एकेश्वरवादी मतवादी ‘रिलीजन’ की। पश्चिम के इस आत्म-विभाजित विकास में एक की परिणति यह ग्लोबलाइजेशन; और दूसरा पहले अपने को ‘सेक्यूलर फेज ऑव क्रिश्चियनिटी’ घोषित करके खुद को मृतसंजीवनी पिलाने की कोशिश करता हुआ। मूल चरित्र उसका वही— जिसे हक्सले ने ‘थियोलॉजिकल साम्राज्यवाद’ कहा है। और, जिसमें ईसाइयत ही नहीं इस्लाम भी इसीलिए अन्तर्भुक्त हो जाता है कि विश्व-इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी के अनुसार वह भी ईसाइयत की

ही एक 'हेरेसी' है। यह है किस्सा उस मानव-केन्द्रित यूरोपीय सभ्यता का, जिसके अधुनातन संस्करण की यानी, अमरीकी-चीनी चौधराहट एक ओर, तथा इस्लामिक आतंकवाद दूसरी ओर, दोनों की चपेट में आज समूची दुनिया है और इसीलिए भारत भी। प्रश्न यह है कि ऐसे चक्रवात में भारत की भारतीयता कहाँ है? कहीं वह भी तो विस्थापित नहीं हो चुकी पूरी तरह पश्चिमी बाजारवाद-उपभोक्तावाद से? कहीं उसकी नियति भी सुपर-कम्प्यूटरीकरण और क्लोन-करण ही तो नहीं हो गई?

पहली प्रक्रिया तो हालात को देखते हुए यही होगी कि हाँ, भारत भी अब पूरी तरह इस विश्वव्यापी घटनाचक्र की गिरफ्त में आ चुका है और अब आगे ढलान-ही-ढलान, उतार-ही-उतार है; भारतीयता चौपट हो रही है; वह सिर्फ 'कॉरपोरेट कल्चर' की एक नकल और तथाकथित योग आदि के निर्यात की एक छोटी-सी 'कमोडिटी' भर बनकर कृतकृत्य है। आयात तो केवल भोगवादी-होड़वादी यान्त्रिक भौतिकतावादी मूल्य-विपर्ययों का ही बढ़ता जा रहा है। नई पीढ़ी पूरी तरह इस बाढ़ के हवाले कर दी गई है, और इससे पहले की पुरानी पीढ़ी भी कुछ कम लालची-नकलची नहीं थी। कुल मिलाकर वस्तुस्थिति निराशाजनक है : गर्व करने लायक तो कदापि नहीं।

किन्तु ठण्डे दिमाग से सोचने पर तथा ठण्डे दिमाग वाले अत्यल्प ही सही—कई सारे उत्तरदायी बुद्धि-वैभव-सम्पन्न अपने थोड़े से असली बौद्धिकों को पढ़ते-गुनते हुए, अपने देशवासियों के जीवन की असलियत पर तथा भारत के इतिहास पर (गाँधी के सच्चे अनुयायी धर्मपाल की शब्दावली का सहारा लें, तो 'भारतीय मानस, चित्त और काल' पर) आँखें गड़ाकर देखने पर तस्वीर इतनी काली नहीं दिखती। याद करें कि ...“हिन्दुस्तानी महासागर के किनारे पर ही मैल जमा है। उससे जो लोग गन्दे हो गए हैं, उन्हीं को साफ होना है।”—यह 'हिन्द स्वराज' के द्रष्टा गाँधी ने पिछली सदी की शुरुआत में ही घोषित किया था। हो सकता है, अब आज की तारीख में हम शायद ऐसा निष्कम्प आत्मविश्वासी दावा करने की स्थिति में नहीं हों : यत्र-तत्र सर्वत्र-भिद चुकी सर्वग्रासी भ्रष्टाचारी राजनीति ने हमारे जनसाधारण के—जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि और प्रवक्ता गाँधी जी थे—उस जनता के परम्परागत गुणों को काफी कुछ धूमिल कर दिया हो, दबा दिया हो। फिर भी लगता है उनका मूल्य-विवेक पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है। अपनी सुदीर्घ परम्परा के लोक-शास्त्र-समन्वित रूप को वे आज भी जीवित रखे हुए हैं जैसे-तैसे। अपने तथाकथित श्रेष्ठ और प्रबुद्ध लोगों की नालायकी और बदहवासी के बावजूद।

वैसे भी, यों देखा जाए तो आज की यह अराजक, मूल्यमूढ़ आपाधापी हमारे ही कर्मों के दुर्निवार्य फल की तरह अनिवार्य लग उठती है। अपनी भारतीय या कि हिन्दू संस्कृति को येन-केन-प्रकारेण बचाने के चक्कर में हमारे रक्षक समुदाय ने—जिसकी रचनात्मक सामर्थ्य पस्त हो चुकी थी—तमाम तरह की बाड़ें बनाकर अपनी सुरक्षा का उपक्रम करना चाहा। एक बहुत बड़ा हिस्सा हमारी आबादी का—निरन्तर उपेक्षा-अवहेलना

का शिकार होकर दरिद्र होता गया। छुआछूत और स्थानभ्रष्ट जाति-प्रथा की अमानवीय गतिविधियों ने उसका रहा-सहा आत्मसम्मान भी क्षत-विक्षत करके पूरे समाज-शरीर को विकलांग बनाके धर दिया। यह बहुत महँगा मोल अपने बचे रहने का हमने चुकाया। अपनी 'हिन्दू' शीर्षक लम्बी कविता में हमारे राष्ट्रकवि गुप्त जी ने यथातथ्य इस विडम्बना को चिह्नित किया है—

*सह लें हम स्वजनों की मार/रहता है उसमें भी यार।*

*किन्तु घृणामय उनका भाव/कर देता है दुस्सह घाव।*

कहना न होगा कि यह 'दुस्सह घाव' ही उस दुर्भाग्यपूर्ण वस्तुस्थिति के कारणों में है, जिसे भारतीय मूल के विस्थापित उपन्यासकार वी.एस. नायपाल ने 'घायल सभ्यता' ('इण्डिया : अ वूण्डेड सिविलिजेशन') कहा है। उधर जो जीवन-पोषक आनन्दवादी वैदिक धारा हमारे शास्त्रों में ही नहीं, लोक-विश्वासों में भी प्रवहमान रही थी—वह भी संन्यास, निवृत्ति और मोक्ष की तरफ झुक गई। भक्ति ने जहाँ एक ओर हमें उसे दुष्काल में जबर्दस्त सहारा-आश्वासन दिया, वहीं हमें और हमारे दिमाग को पिलपिला भी बनाके धर दिया। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का सम्बन्ध ही गड़बड़ा गया। अपने आप में यह भी हमारी सभ्यता के राजनीतिक पराभव और गुलामी का कारण रहा। तभी न गाँधी जी को कहना पड़ा कि "हिन्दुस्तान को अँग्रेजों ने नहीं जीता; उसे हमने खुद ही तश्तरी में रखके उन्हें भेंट कर दिया।" यह भी कि "अपनी गुलामी में सहायक होने के लिए कोई बँधा नहीं है। हम अपना घर साफ रखें तो उसमें रहने वाले ही उसमें रहेंगे। बाकी घुसपैठिये अपने-आप चले जाएँगे।..." इसी तरह, इतिहास-विधाता ने हमें महात्मा गाँधी के साथ ही एक दूसरा महापुरुष भी भेंट किया था उस नाजुक मोड़ पर। महात्मा गाँधी के पूरक व्यक्तित्व की तरह। उन श्री अरविन्द को भी यही कहना पड़ा कि "जिस तरह पश्चिम के इतिहास ने पश्चिम को भौतिकवादी नकार में ला पटका है, उसी तरह भारत के इतिहास ने भारत को उसके उल्टे अतिवाद में—अर्थात् जीवन के संन्यासमूलक नकार में ला पटका है। क्या श्रीअरविन्द का जीवन-कार्य पिछली सदी के भारत के लिए उतने ही दूरगामी महत्त्व की घटना नहीं है, जितनी कि महात्मा गाँधी का जीवन और कार्य?

उपनिवेशवाद के सर्वप्रथम प्रतिकार की पहल महात्मा गाँधी द्वारा ही की गई थी—जिसकी भरपूर सराहना नायपाल ने भी अपनी पहली विवादास्पद पुस्तक 'भारत : एक अँधेरे का क्षेत्र' में की है। बाद में तो नायपाल के विचार किस तरह स्वयं इस 'अँधेरे क्षेत्र' के बारे में भी बदले हैं—देखने लायक बात है। 'इण्डिया : अ मिलियन म्यूटिनीज नाउ' तक आते-आते उसे लगने लगा कि भारत ने आखिर अपने साम्राज्यवादी शोषक यूरोप से प्रगति और आधुनिकता का सबक तो सीख ही लिया है—उसका कायाकल्प हो रहा है—तकनीकी प्रगति को तेजी से अपनाने के फलस्वरूप। परन्तु

ठीक यहीं पर गाँधी जी को समझने में—यूरोपीय सभ्यता की विकृतियों के भी गाँधी जी द्वारा किए गए मूल्यांकन में वह चूक जाता है। जरूरत आज स्वयं गाँधी जी के सभ्यता-सम्बन्धी विचार और कर्म के पुनर्मूल्यांकन की है। ‘हिन्द स्वराज’ सरीखे भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के बीज-ग्रन्थ के भी पुनर्पाठ की। हमें देखना यही है कि कहीं हमारी स्वातन्त्र्योत्तर प्रगति हमारे पारम्परिक सांस्कृतिक विवेक की कीमत चुकाकर तो नहीं हो रही है? लक्षण तो कुछ ऐसे ही दिखते हैं। मगर जब हम महात्मा गाँधी और श्री अरविन्द सरीखे द्रष्टाओं-कर्मयोगियों का किया-धरा याद करते हैं तो हमें लगता है, भारत इस आँधी में नष्ट होने के लिए नहीं बना है। इतना तो इकबाल को भी सूझा ही था कि “कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।” हालाँकि वह बात क्या है, इसका यथातथ्य अहसास उसके वहाँ नदारद ही रहा दिखता है। वह बात गाँधी और श्रीअरविन्द ने समझी और समझाई भी दुनिया को। जैसा कि इंग्लैण्ड की वरिष्ठतम कवयित्री और विदुषी कैथलीन रेन ने मुझे अपने एक पत्र में लिखा था—“भारत बचेगा तो दुनिया भी बचेगी। विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसकी संस्कृति सही मायने में विश्वजनीन है। भारत की चराचरवादी, पावनतामूलक विश्व-दृष्टि ही विश्व-मानवता की आशा का आधार है। उसकी लौ को इस झंझावात में बुझने से बचाना हम सबका कर्तव्य है।” यह इकबाल की तरह का भावुक उद्गार न होकर एक सुचिन्तित बौद्धिक निष्कर्ष है। जैसा कि बी.एस. नायपाल ने अपनी एक विचारोत्तेजक पुस्तक ‘बियाण्ड बिलीफ’ में लिखा है—“पवित्रता के बोध का लोप ही आज की दुनिया का असली अभिशाप है—पर्यावरण की क्षति से भी कहीं अधिक गहरा और मारक अभिशाप।” प्रसंगवश, आगे इसी अध्याय में नायपाल इकबाल के उस भाषण को उद्धृत करता है, जो सन् 1930 में मुस्लिम लीग की उस बैठक में दिया गया था, जिसमें पाकिस्तान का, यानी भारत-विभाजन का पहला बीज बोया गया था। उस भाषण में इकबाल ने कहा था कि “कोई भी राष्ट्रीय किस्म की राजनीति किसी भी हालत में मुसलमानों के लिए स्वीकार्य तो क्या कल्पनीय भी नहीं है।” 1930 में ‘राष्ट्रीय’ किस्म की राजनीति—अर्थात् इकबाल की ‘नेशनल पोलिटी’ का आशय अखिल भारतीय राजनीति ही हो सकता था। इसलिए इसका अर्थ नायपाल के अनुसार यही हुआ कि, मुसलमान सिर्फ मुसलमानों के साथ ही रह सकता है। यह भी, कि अच्छी दुनिया एक सौ फीसदी कबीलाई दुनिया ही हो सकती है; सर्वग्राही समावेशी लोकतान्त्रिक दुनिया नहीं।” क्या महात्मा गाँधी इससे अनभिज्ञ रहे होंगे? हिन्दू-मुस्लिम एकता के उनके महास्वप्न की जड़ें आखिर कहाँ थीं? उसी चराचरवादी हिन्दू संस्कार में ही ना, जिसने उन्हें खिलाफत आन्दोलन का साथ देने तक को प्रेरित किया? आलोचना तो हर ऐतिहासिक व्यक्तित्व की हो सकती है और होनी ही चाहिए; महात्मा गाँधी सरीखी विभूति भी इक्कीसवीं सदी के वायुमण्डल में अन्धश्रद्धा या महज रूढ़ि-पालन के आधार पर अपनी प्रासंगिकता बनाए नहीं रह सकती। गहरे बौद्धिक

विमर्श और मात्रा-ज्ञान के बूते ही वह अपनी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय साख को कायम रखती आई है और आगे भी रखती आएगी।

इसी अत्यावश्यक बौद्धिक विमर्श की माँग के अनुरोधवश हमें यहाँ धर्मपाल सरीखे सत्यशोधक विद्वानों का ही नहीं, नायपाल और अज्ञेय सरीखे लेखकों तथा श्री अरविन्द सरीखे गाँधी जी से भिन्न राजनीतिक-सांस्कृतिक दृष्टि वाले कर्मयोगियों के कृतित्व पर भी ध्यान देना सहज-स्वाभाविक लग रहा है। नायपाल मसलन, उसी किताब में एक जगह कहते हैं—

“हिन्दू धर्म अन्य विश्व धर्मों की तुलना में अधिक मजबूत आध्यात्मिक सत्य की बुनियाद पर खड़ा है, यह तो, चलो मान लिया। लेकिन इस बीसवीं सदी के हिन्दुस्तान में यह जो ‘गाँधी’ नामक घटना घटित हुई, वह क्या ऐतिहासिक नहीं है? क्या गाँधी का हिन्दुत्व अन्य अन्य लोगों के हिन्दुत्व से अलग अपनी पहचान नहीं बनाता? आखिर गाँधी को अपने सामाजिक विचार क्या जिसे हिन्दू परम्परा कहा जाता है, सिर्फ वहीं से मिले? या कि अन्य स्रोतों—जैसे कि ईसाइयत का भी उसमें कुछ योगदान मानना होगा?”

निश्चय ही यह प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है। भारत के वर्तमान और भविष्य की—भारतीय राजनीति के भी वर्तमान और भविष्य को देखते हुए भी। तथाकथित हिन्दुत्व की राजनीति और वह खुद जिस काँग्रेसी और कम्युनिस्ट राजनीति की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उभरकर सामने आई है, उसके भी यथातथ्य आकलन के लिए। श्रीअरविन्द के पत्रों में और ‘ईवनिंग टॉक्स’ नामक अत्यन्त रोचक पुस्तक में भी कई जगह गाँधी का उल्लेख आया है—अधिकतर असहमति की मुद्रा में। मसलन, गाँधी जी के सुप्रसिद्ध उपवास को लेकर उनकी यह टिप्पणी, कि “एक व्यक्ति समूचे समुदाय के पापों का प्रायश्चित्त करे, यह ईसाई विचार है और हिन्दू परम्परा से मेल नहीं खाता...”। इसी तरह, सुनते हैं क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार कर लेने के आग्रह के साथ श्री अरविन्द ने एक विशेष सन्देशवाहक काँग्रेसी नेताओं को पठाया था—स्पष्ट ही गाँधी जी की राय के विरुद्ध। परन्तु न तो नायपाल में, न हमारे गाँधी निष्ठ विचारकों में मुझे कहीं यह जिज्ञासु या इसका विमर्श देखने में आया। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी हिन्दी कवि और ‘आलोचक राष्ट्र’ मन्त्रदाता अज्ञेय से एक बार मैंने उक्त उपवास वाली बात का जिज्ञासु किया था। वे श्रीअरविन्द की बात का विरोध और गाँधी जी के पक्ष का समर्थन करते दीखे। जहाँ तक नायपाल का प्रश्न है, युवा उपनिवेश-विरोधी आन्दोलनकर्ता गाँधी के प्रति उसकी अनुरक्ति और उत्तरकालीन महात्मा से उसकी विरक्ति ध्यानाकर्षक है—उसकी यह मान्यता भी, कि सनातन हिन्दू धर्म-दर्शन में ही कुछ ऐसा अनैतिहासिक और जीवन-विरोधी गड़बड़झाला है, जो गाँधी सरीखे कर्मठ और जुझारू नेताओं की भी ऊर्जा और कर्म-प्रेरणा को सुखा डालता है, कुन्द कर देता है और आधुनिक जीवन की चुनौतियों का सामना करने में बाधक बनता है। तो क्या नायपाल सरीखे आलोचक



युवा गाँधी की तेजस्विता का समूचा श्रेय उनकी यूरोपीय सभ्यता से हुई टकराहट को ही देना चाहते हैं? ऐसा अगर हो भी, तो इससे भारतीय (कह लीजिए — हिन्दू) विश्व-दृष्टि या जीवन-दर्शन की दुर्बलता सिद्ध होती है या कि वांछनीय प्रभावों को पचा सकने की उसकी अन्तर्निहित सामर्थ्य और लचीलापन? नायपाल सरीखे आलोचक इस जगह खासे भ्रम में पड़े दीखते हैं। जैसा भ्रम कम-से-कम धर्मपाल सरीखे गाँधीनिष्ठ खोजियों या मिशनरी अभियानों के जबर्दस्त आलोचक रामस्वरूप जी में कहीं नहीं दिखाई देता। उदाहरण के लिए, धर्मान्तरण के विरुद्ध गाँधी जी का जो सुदृढ़तम पक्ष है, उसका सन्दर्भ मुझे रामस्वरूप जी से ही प्राप्त हुआ था। गाँधी जी का वह कथन यहाँ इसलिए विशेष रूप से उद्धरणीय है कि वह ईसाइयों के अनन्य बन्धु और 'सर्मन आन दि माउण्ट' के प्रशंसक का कथन है, न कि किसी तथाकथित हिन्दुत्ववादी व्यक्ति या संगठन का। वह उद्धरण यों है—

“Proselytization is the deadliest sin that ever sapped the foundations of truth.”

अर्थात्, “दूसरों के धर्म-परिवर्तन का उन्माद वह सांघातिक विष है जो सत्य को उसकी जड़ों पर ही सुखा डालता है।”

युवा गाँधी की तुलना में उत्तर-गाँधी से नायपाल जैसे बुद्धिजीवियों की विरक्ति का आधार अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त जान पड़ता है और समकालीन तथा प्राचीन भारत के सम्बन्ध के भीतर ज्यादा गहरी और निस्संग पैठ की माँग करता है। यहाँ मैं बौद्ध धर्म के प्रकाण्ड विद्वान तथा प्राचीन वैदिक वाङ्मय तथा इतिहास-पुरातत्त्व के अधिकारी मर्मज्ञ श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डे का मन्तव्य भी उद्धृत करना चाहूँगा—जो नायपाल की पूर्वोक्त भारती धर्म-विषयक धारणा के सन्दर्भ में और गाँधी जी के सन्दर्भ में भी सटीक-प्रासंगिक है। पाण्डे जी के कथनानुसार—

“भारतीय संस्कृति सनातन विद्या की ऐतिहासिक परम्परा है। मूलतः वैदिक युग में वह संस्कृति एक सहज अखण्डता से लक्षित थी। परवर्ती युग में सभ्यता के विकास के साथ साधनात्मक मूल संस्कृति सभ्यता के विश्व से पृथक्-सी एक धारा बन गई। ...मध्यकाल में सांस्कृतिक मूल से न्यूनाधिक रूप में विच्छिन्न होने के कारण सभ्यता का प्रासाद भी क्रमशः ढह गया। जहाँ नवी-दसवीं शताब्दियों तक भारतीय सभ्यता विश्व सभ्यता की प्रथम श्रेणी में थी, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वह निश्चित रूप से पिछड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी से अवश्य ही फिर से प्राचीन सभ्यता की स्मृति उभरी है। गीता का पुनः प्रचलन और उसकी कर्मयोगपरक व्याख्या आध्यात्मिक संस्कृति को सामाजिक-भौतिक जीव से जोड़ने का प्रयास है, जिसे गाँधी जी ने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान किया है। स्वतन्त्रता के बाद के युग में सभ्यता के निर्माण में एकान्तिक रूप से लगी हुई भारतीय चेतना, कम-से-कम तात्कालिक रूप से मूल संस्कृति की प्राणदायकता के तत्त्व को भूल-सी रही है।”

स्पष्ट ही, ऐसी संस्कृति के केन्द्र में यदि अन्य संस्कृतियों से ज्यादा खुलापन होता है, तो उसे बचाए रखने के लिए भी आन्तरिक गतिशीलता और सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता अनिवार्य है। तस्वीर का यह दूसरा पहलू रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'गोरा' में तथा उनके कई लेखों में उजागर हुआ है और उनसे भी कहीं अधिक प्रखरता के साथ गाँधी जी के 'हिन्द स्वराज' तथा 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर दिए गए भाषण में उद्घाटित हुआ है। जैसा कि उदाहरण के लिए, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक लेख 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स' में लिखा है, "शिवाजी के प्रयत्न से समूचे देश में एक अस्थायी उत्साह फैल गया और हमने समझ लिया कि देश संगठित हो गया। किन्तु समूचे देश समाज रूपी शरीर में पड़ी हुई दरारें और छिद्र गुप्त रूप से काम करते रहते हैं। उनके कारण हम किसी भी उच्चादर्श को चिरकाल तक बनाए नहीं रख सकते। शिवाजी ने इन दरारों को वैसा-का-वैसा बनाए रखना चाहा।" क्या इस कटु यथार्थ को नकारा जा सकता है। रहे महात्मा गाँधी, तो वे भले इतिहास को उतना महत्त्व नहीं देते, परन्तु वे भी तो अपने समाज के श्रेष्ठ और प्रबुद्ध जनों को उनकी संवेदनहीनता के लिए सबसे पहले लताड़ते हैं और 'पहले अपना घर साफ रखने' ...और 'प्रजा की हाथ अँगरेजों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी'...जैसी चेतावनियाँ देते हैं। क्या इस तरह गाँधी जी हमें भरपूर आत्मालोचन के लिए नहीं उकसाते? और क्या वह सब आज इक्कीसवीं सदी के भारत के लिए अप्रासंगिक हो चुका है? निश्चय ही नहीं। किन्तु यह आत्मालोचन भी स्वयं गाँधी जी की दृष्टि में उन्हीं के लिए सार्थक और फलप्रद हो सकता है, जिनकी खुद की जड़ें खुद अपनी संस्कृति और 'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाली विश्वदृष्टि के भीतर गहरे में गड़ी हों (देखे जयप्रकाश नारायण को लिखा गाँधी जी का वह पत्र)। जाहिर है कि बिना इस आत्मविश्वास के दूसरी सभ्यताओं से इकहरे आदान में लिथड़े रहना आत्म-नवीकरण को नहीं, बल्कि परोपजीवी आत्महीनता को ही उपजाता है।

इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि परोपजीवी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं की निरन्तर घुसपैठ ने हमारे सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन को ही नहीं, सोच-विचार की भाषा को भी कुण्ठित और भ्रष्ट किया है। यह भी साफ समझ में आता है कि यह घुसपैठ भी अन्ततः उसी साम्राज्यवादी लिप्सा और सेक्युलराइजेशन की प्रक्रिया का ही ऊपर से निर्दोष और लोकहितकारी प्रतीत होने वाला अंग है जिसने एक ओर मनुष्य और प्रकृति के तथा दूसरी ओर मनुष्य और मनुष्य के भी बीच के सम्बन्ध को विकृत कर डाला है। यहीं पर जे.पी. को लिखे गए महात्मा गाँधी के उस पूर्वोक्त पत्र की याद आती है, जिसमें गाँधी जी ने 'ईशावास्येपनिषद्' के पहले ही मन्त्र को उद्धृत करते हुए कहा था कि "मेरे लिए तो इसमें पूरा समाजवाद निहित है।" लगता नहीं कि गाँधी जी की इस अनुभूति और विचार की गम्भीरता को, यानी उसके सांस्कृतिक निहितार्थों

को उस वक्त या बाद में भी कभी वस्तुतः समझा और स्वीकारा गया। सोचने की असली बात यह है कि यदि यह सब कुछ 'ईशावास्य' नहीं है और यदि यह सृष्टि दिव्यता और पावनता से बिल्कुल रहित है, तो फिर ऐसी सृष्टि और ऐसी सभ्यता अपने मालिक बन बैठे मनुष्य के लिए निर्बाध उपभोग और विजय की सामग्री के सिवाय और क्या बन सकती है? क्या यह मनुष्य की निम्नतम प्रवृत्तियों को—असीमित भोग-लालसा और जिजीविषा को खुला निमन्त्रण ही नहीं है—उस मनुष्य को—जिसे यह विचारधारा— वह चाहे पूँजीवादी हो, चाहे मार्क्सवादी—सृष्टि के केन्द्र में प्रतिष्ठित करती है—चराचर सृष्टि का उपभोक्ता और स्वामी बनाकर। ऐसी विश्वदृष्टि—'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाली विश्वदृष्टि की सर्वथा विलोम विश्वदृष्टि—की परिमति अगर स्वयं मानवी चेतना के ही नियन्त्रण और घर्षण में हो जाए, तो इसमें अचरज कैसा?

बहरहाल, इक्कीसवीं सदी के इस शुरुआती मोड़ पर तो हमें अब यह साफ-साफ देख सकना ही चाहिए कि जिस उपभोक्ता संस्कृति का बेहतर विकल्प खोजने की बात हम करते हैं—समाजवादी विचारक किशन पटनायक ने जिसे 'विकल्पहीन नहीं है दुनिया' नामक अपनी अनूठी पुस्तक में परिभाषित किया है—उसके पीछे जो मूल विकृति है, वह यही है—यही पावनताजनित विवेक का क्षरण, यही पाश्चात्य सभ्यता का दिग्विजयी अहंकार, यही मूर्तिभंजक मनोवृत्ति की उग्रता—जिसे नायपाल ने 'इस्लाम इज नाउ ऑन दि डिफेन्सिव' कहके परिभाषित किया है, यही सेक्सुलराइजेशन के आपातरम्य भेष में छुपा साम्राज्यवादी विश्वदृष्टि—जिसने इस पृथ्वी को एक मरुस्थल में परिणत कर डाला है। बिना निर्देवीकरण-अपावनीकरण की इस आधुनिक विश्वव्यापी प्रक्रिया का यथावत साक्षात्कार और सामना किए बिना उसे गाँधी जी के अभिलषित अपने भारतीय 'ईशावास्यमिदं सर्वं' वाले पावनताजनित विवेक के बुते भरपूर प्रतिरोध दिए हम किसी विधायक विकल्प की—इस इक्कीसवीं सदी में चरितार्थ हो सकने वाले विकल्प की—बात सोच भी नहीं सकते।

आज इस इक्कीसवीं सदी के मोड़ पर हम पाते हैं कि गाँधी जी द्वारा समर्थित अनासक्ति-योग को सर्वोच्च जीवन-मूल्य की तरह खोजने और बरतने वाले भारत के समकालीन नागरिक सबसे ज्यादा भयंकर आसक्तियों के शिकार जान पड़ते हैं। शायद उच्चतम आदर्श से निम्नतम यथार्थ तक पैण्डुलम पहुँचेगा, तभी सन्तुलन पैदा होगा—ऐसा प्रतीत होने लगा है। इसी तरह आत्मा और आत्मान्वेषण जिस जाति के लिए मनुष्य का प्रथम और अन्तिम सरोकार रहा था कभी, उसी के सदस्यों को हम आज भयानक आत्मरति में लिथड़े देखते हैं। अनासक्ति न हमारे विचारों में कहीं नजर आती है, न हमारे आचरण में। इसी तरह सत्य और अहिंसा की जगह हममें निर्लज्ज झूठ बोलने, अपने ही समानधर्मी साथियों का चरित्र-हनन करने की लाइलाज कुटेव पड़ चुकी

दिखती है और हम इस अनाचार को ढाँपने और तर्कसम्मत ठहराने के लिए 'अपना मोर्चा' और 'रणनीति' जैसी मूल्य-निरपेक्ष लफ्फाजी का सहारा लेने में भी नहीं सकुचाते। 'अस्तेय' नामक मूल्य की विडम्बना तो आज इस इक्कीसवीं सदी के हिन्दुस्तान में और भी बुरी तरह उजागर हो रही है। चोरी सिर्फ सार्वजनिक 'धन' की नहीं होती, उस 'श्रम' की भी होती है, जिसका वेतन आप भोग रहे हैं निर्लज्ज सुविधापूर्वक। और मर्यादा का जहाँ तक प्रश्न है, वह तो हर क्षेत्र में, हर जगह लॉधी जा रही है।

कालिदास की प्रसिद्ध सूक्ति है कि 'विकारः परमार्थतोऽज्ञात्वानारम्भ प्रतिकारस्य।' विकार को पूरी तरह जाने बिना उसके इलाज की शुरुआत ही नहीं हो सकती। आज हम जब इक्कीसवीं सदी में महात्मा गाँधी की और भारतीय संस्कृति की बात करते हैं, तो हमें सर्वप्रथम इसी तथ्य को ध्यान में रखना होगा—समसामयिक भारतीयता अथवा हिन्दुत्व के आचरणगत यथार्थ की उक्त चर्चा इसी अर्थ में अर्थवान और प्रासंगिक हो सकती है। 'हम अपना घर पहले खुद साफ रखना सीखें'—गाँधी जी की यह चेतावनी और उसी के सिलसिले में "हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा"—कवि-चिन्तक अज्ञेय के इस आह्वान की सार्थकता भी यहीं इसी जगह समझ में आती है।

## बच्चों का व्यवहार ठीक करने के लिए जरूरी है कि पहले बड़े अपना व्यवहार ठीक करें

सीताराम गुप्ता\*

घर में सबसे छोटा सदस्य है मेरा सवा-डेढ़ साल का पौत्र। वह मौका लगते ही झाड़ू उठा लाता है और लगता है फर्श पर झाड़ू लगाने की कोशिश करने। कभी वाइपर उठा लाता है और उसे चलाने लगता है। कोई भी कपड़ा मिल जाए उसे उठाकर पानी की बाल्टी में या जहाँ कहीं भी पानी मिले, उसमें डुबोकर गीला कर लेता है और कभी फर्श पर पोंछा लगाने लगता है तो कभी मेज साफ करने लगता है। गाड़ी में अगली सीट पर बैठता है तो कभी रेडियो का वॉल्यूम बढ़ा देता है तो कभी एसी का। कभी वाइपर का लीवर घुमा देता है तो कभी गियर रॉड खींचने का प्रयास करता है। वह ऐसा क्यों करता है? वह ऐसा इसलिए करता है, क्योंकि वह हम सबको ऐसा करते हुए देखता है और उसे खुद करने की कोशिश करता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है। बच्चा खाली या शान्त नहीं बैठ सकता। उसे कुछ-न-कुछ खेल करना ही है। घर के सदस्यों के काम और दूसरे क्रियाकलापों की नकल करने से अच्छा खेल उसके लिए और कोई हो ही नहीं सकता।

प्रश्न उठता है कि क्या बच्चे के खेलने के लिए उसके पास खिलौने नहीं हैं, जो वह घर की दूसरी चीजों से खेलने की कोशिश करता है? हैं, पर्याप्त हैं, लेकिन वास्तविकता ये है कि यदि उसके चारों ओर बहुत सारी चीजें रखी हों तो वह उन सबसे भी खेलेगा। अपने आस-पास की सभी चीजें उसे आकर्षित करती हैं। घर के सदस्य जिन चीजों का प्रयोग करते हैं और जैसे करते हैं वो भी उन सभी चीजों का उन्हीं की तरह या अपने तरीके से प्रयोग करना चाहता है। यही उसका खेल है। बच्चा खिलौनों से भी प्रायः तभी खेलता है, जब दूसरे लोग उनसे खेलना शुरू करते हैं। वास्तविकता ये भी है कि लोग अपने बच्चों के लिए जो खिलौने खरीदते हैं, वे बच्चों

\*ए डी-106-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, फोन नं 09555622323

ईमेल : srgupta54@yahoo.co.in

की पसन्द के नहीं अपनी पसन्द के खरीदते हैं। वे खिलौने लाते हैं और बच्चे को बतलाते हैं कि ऐसे खेलो। लोग प्रायः खाने-पीने की चीजें भी बच्चों की पसन्द के बजाय अपनी पसन्द की ही लाते हैं। हम बच्चों से अपनी बात मनवाने या अपनी पसन्द उस पर थोपने का प्रयास करते ही रहते हैं।

बच्चा जब बड़ों की पसन्द के खिलौनों से खेलेगा, उनकी पसन्द की चीजें खाएगा तो यह भी स्वाभाविक ही है कि उनकी पसन्द या जरूरत के दूसरे काम भी उनकी तरह ही करने की कोशिश करेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यही तो हम उसे सिखा रहे होते हैं। और यदि ऐसा करने से उसे रोकेंगे तो मचलने लगेगा। रोएगा। रूठेगा। उसका यह व्यवहार बड़ों से प्रश्न करना ही है कि जब आप सब लोग यह सब कर रहे हैं तो मेरे करने में क्या बुराई है? उसका व्यवहार बिल्कुल ठीक है। यदि आप अपने सामने नहीं करने देंगे तो वह आँख बचाकर या पीछे से करेगा। तो नन्हें बच्चों को रोकने की बजाय वे जो करें करने दीजिए। बस उनकी सुरक्षा का ध्यान रखिए। उन्हें सर्दी-गर्मी, आग-पानी और गन्दगी से बचाने का प्रयास करते रहिए। जो चीजें उनके लिए खतरनाक या कोई दुर्घटना पैदा करने वाली हो सकती हों, उनकी पहुँच से दूर कर दीजिए। खतरनाक रसायन और दवाएँ उनकी पहुँच से बहुत ऊपर रखिए।

यदि बच्चा इधर-उधर से कोई गलत चीज उठाकर मुँह में डालता है तो उसे रोकना जरूरी है। इसके लिए उसका पेट भरा होना भी जरूरी है। उसे सही समय पर उचित आहार दीजिए, लेकिन खाने-पीने के मामले में भी बच्चे कम परेशान नहीं करते। अधिकांश बच्चे प्रायः दूध पीने या खाने से बचने की कोशिश करते हैं और जब घर के दूसरे या बड़े सदस्य भोजन करते हैं तो उनके भोजन में से उठाकर खाने का प्रयास करते हैं। ये तो बड़ी अच्छी बात है। इस बात का लाभ उठाना चाहिए। जब घर के बड़े सदस्य कुछ भी खाने के लिए बैठें तो ऐसा भोजन लेकर बैठें, जो बच्चों के लिए भी अनुकूल हो। खुद भी खाएँ और बच्चों को भी खिलाएँ। जिन घरों में तीसरी या चौथी पीढ़ी के बुजुर्ग जैसे दादा-दादी, नाना-नानी या परदादा-परदादी आदि होते हैं बच्चों के लिए हर तरह से बड़ा ठीक रहता है। बुजुर्ग प्रायः दलिया-खिचड़ी आदि लेते हैं तो बच्चा भी उनके साथ ये सब खाद्य-पदार्थ ले लेता है, जो उसके लिए ठीक रहते हैं।

इसके बाद सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है शिष्टाचार और नैतिकता के विकास का। अनुकरण अथवा नकल का हम सबके जीवन में बहुत महत्व है। नकल के बिना हम सीख ही नहीं सकते, लेकिन गलत चीजों की नकल करना घातक है। बच्चा भी अनुकरण से ही सीखता है। वह बड़ों का ही अनुकरण करता है। अपने अन्दाज में वह बड़ों की ही भाषा बोलता है और बड़ों की तरह ही बोलता है। हम शिष्टाचार का यथेष्ट पालन न करें और बच्चों को समझाएँ कि वो शिष्टाचार का पालन करे तो ये सम्भव नहीं। बच्चों को शिष्ट बनाना है तो माता-पिता को शिष्ट बनना होगा। हम घर

में एक-दूसरे से और मेहमानों या अन्य आगन्तुकों से जैसा व्यवहार करते हैं अथवा जैसी भाषा बोलते हैं, बच्चा भी उसी का अनुकरण करेगा। अभिवादन भी उन्हीं की तरह करेगा। लहजा उसका अपना होता है, लेकिन भाव बड़ों का ही आ जाता है। माता-पिता और घर के अन्य सदस्यों में जैसी आदतें होती हैं बच्चा बड़ी सूक्ष्मता से न केवल उनका निरीक्षण करता रहता है, अपितु उनकी नकल भी करता रहता है।

यदि बच्चों में सचमुच अच्छी आदतें डालनी हैं और उन्हें सुसंस्कृत बनाना है तो माता-पिता को भी स्वयं में अच्छी आदतें डालनी होंगी और सुसंस्कृत बनना होगा। बच्चा जब हमारे व्यवहार अथवा व्यक्तित्व में कमी अथवा दोगलापन पाता है तो वह विचलित हो जाता है। हमारी कथनी और करनी का अन्तर या किसी के सामने व उसकी पीठ पीछे उसके प्रति व्यवहार या आचरण में अन्तर बच्चे पर सबसे ज्यादा बुरा प्रभाव डालता है। वह समझ ही नहीं पाता कि कथनी ठीक थी या करनी ठीक है। उसे पता नहीं चल पाता कि किसी के सामने उसके बारे में कही गई बात ठीक थी या उसके जाने के बाद पहली बात के विपरीत कही गई बात उचित है। उसकी प्रशंसा या चापलूसी ठीक थी या उसकी आलोचना ठीक है। बच्चे के सम्पूर्ण आचरण और उसके नैतिक चरित्र के विकास में इन बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। हम बात-बात पर गुस्सा करते हैं या झूठ बोलते हैं तो बच्चा भी ऐसा ही करेगा। हमारे व्यवहार अथवा आचरण में दोगलापन है तो बच्चे के व्यवहार और आचरण में भी वह जल्दी ही आ जाएगा।

प्रायः ऐसा होता है कि माता-पिता या घर के अन्य सदस्यों में कुछ कमियाँ होती हैं। यह स्वाभाविक है, लेकिन कोई माता-पिता या घर का अन्य सदस्य यह नहीं चाहता कि उनके बच्चों में भी ये कमियाँ आएँ। वह बच्चों को उन कमियों से बचाने के लिए पूरा जोर लगा देते हैं। यहाँ स्वयं को ठीक करने की बजाय बच्चों को ठीक करने पर जोर होता है। इसके लिए समझाने से लेकर डाँटने-डपटने और मारने-पीटने तक सभी तरीके आजमाए जाते हैं, लेकिन बच्चों पर इसका सकारात्मक नहीं नकारात्मक प्रभाव ही पड़ता है। बच्चों को जिन बातों के लिए जोर देकर रोकने का प्रयास किया जाता है, बच्चे उन्हीं के बारे में सोचते रहते हैं और जो हमारी सोच होती है, वही अन्ततोगत्वा हमारे जीवन की वास्तविकता में परिवर्तित हो जाती है। बच्चे भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहते।

आपने सुना ही होगा कि जैसा बाप वैसा बेटा। जेही कोको तेहे बच्चे। जैसा राजा वैसी प्रजा। जहाँ राजा अथवा जनप्रतिनिधि अपने कर्तव्य का ठीक से पालन नहीं करता वहाँ प्रजा का भी अपने कर्तव्य-पालन में शिथिल हो जाना अस्वाभाविक नहीं। प्रवचन अथवा नैतिक शिक्षा की किताबें छलावे अथवा व्यापार के अतिरिक्त कुछ नहीं। गुण हों या अवगुण ऊपर से नीचे की ओर संक्रमित होते हैं। बच्चे ही नहीं हम सब भी अपने परिवेश से ही ज्यादा सीखते हैं, अतः परिवेश को सुधारना अनिवार्य है।

यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि हमारे बच्चों में अच्छी आदतों और सही नैतिक मूल्यों का विकास हो तो उन सभी आदतों और नैतिक मूल्यों को स्वयं माता-पिता को भी अपने अन्दर विकसित करना होगा। दूसरा कोई उपाय या विकल्प हो ही नहीं सकता।

ऐसे प्रेरक प्रसंग जो सत्ता के शिखर पर बैठे लोगों के लिए हैं, आम आदमी के लिए उनके पठन का क्या औचित्य है?

एक प्रेरक प्रसंग पढ़ रहा था। एक बार अमेरिका के उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन एक होटल में गए और उन्होंने वहाँ ठहरने के लिए उस होटल में एक कमरा माँगा। उस समय न तो उनके पास कोई विशेष सामान ही था और न कोई सहायक वगैरा ही उनके साथ था। उन्होंने कपड़े भी अत्यन्त साधारण से ही पहन रखे थे। होटल मालिक ने उनकी स्थिति देखकर कहा कि उनके होटल में कोई कमरा खाली नहीं है। उपराष्ट्रपति महोदय कोई दूसरा होटल देखने के लिए वहाँ से फौरन चल पड़े। जब उपराष्ट्रपति महोदय बाहर निकल रहे थे, तभी एक आदमी तेजी से अन्दर आया और पूछा, “थॉमस जैफरसन साहब यहाँ होटल में क्यों आए थे?” यह जानकर कि जिस व्यक्ति को अभी-अभी उन्होंने कमरा देने से मना कर दिया था, हमारे देश के उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन हैं, होटल मालिक फौरन दौड़कर उनके पीछे गया और उनसे क्षमा माँगते हुए कहा, “क्षमा करें मुझसे बड़ी भूल हुई है। मैं आपको पहचान नहीं पाया कि आप उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन हैं। इसी से ये भयंकर भूल मुझसे हो गई। कृपया आप हमारे होटल में चलें। होटल का सबसे बेहतरीन कमरा आपके लिए तैयार है।”

उपराष्ट्रपति थॉमस जैफरसन ने बस इतना ही कहा कि जिस होटल में एक सामान्य नागरिक के लिए जगह न हो, वहाँ उपराष्ट्रपति को भी नहीं ठहरना चाहिए। बड़े लोगों की महानता, उदारता, संवेदनशीलता, राष्ट्रप्रेम और सामान्य जन के प्रति प्रेम के न जाने कितने किस्से अथवा प्रेरक प्रसंग न केवल हमने पढ़े या सुने होंगे अपितु रोज ही ऐसे अनेकानेक प्रेरक प्रसंग पढ़ते और सुनते रहते हैं। आम आदमी इस प्रकार के प्रेरक प्रसंग पढ़ता ही रहता है, लेकिन वह इससे क्या प्रेरणा ले सकता है? वास्तव में जिन लोगों को इन प्रेरक प्रसंगों से प्रेरणा लेनी चाहिए, क्या वे भी इन्हें पढ़ते हैं? यदि पढ़ते हैं तो क्या उनके जीवन में भी कोई सकारात्मक परिवर्तन दिखलाई पड़ता है? क्या वे भी इनसे प्रेरणा पाकर स्वयं अपने में महानता, उदारता, संवेदनशीलता, राष्ट्रप्रेम और सामान्य जन के प्रति प्रेम आदि गुण उत्पन्न कर समाज अथवा राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का सही निर्वाह कर रहे हैं? जब हम अपने चारों ओर नजर दौड़ाते हैं तो प्रायः इसके विपरीत स्थितियाँ ही देखने को मिलती हैं।

वास्तविकता यह है कि पहले जहाँ आम नागरिक की उपेक्षा होती थी, हमारे जननायक वहाँ जाने से परहेज करते थे, लेकिन आज जहाँ हमारे जननायक रहते हैं



अथवा जहाँ से गुजरते हैं वहाँ आम आदमी का प्रवेश ही निषेध है। अब होटल की बात ही लीजिए। प्रधानमन्त्री या राष्ट्रपति अथवा वीवीआईपीज या वीआईपीज की छोड़िए, क्योंकि इस देश में आज थॉमस जैफरसन जैसी कोई विवशता उनके साथ नहीं होती, लेकिन यदि यहाँ किसी पार्टी के एक सामान्य से कार्यकर्ता को यदि कोई कमरा उपलब्ध न होने पर भी कमरा देने में असमर्थता प्रकट करे तो वह गुण्डई पर उतर आता है। होटल बन्द करवाने की धमकी देकर मुफ्त में ठहरने का जुगाड़ करने की फिराक में रहता है। हर राजनीतिक पार्टी का यही हाल है। जब हमारे वीआईपीज अथवा वीवीआईपीज एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं तो जनसाधारण को कितनी परेशानियों का सामना करना पड़ता है, यह बात भी किसी से छिपी नहीं है। घण्टों पहले रास्ते रोक दिए जाते हैं और रूट डाइवर्ट कर दिए जाते हैं, जिससे लोग न केवल जाम में फँसने को विवश होते हैं, अपितु निरर्थक इधर-उधर भटकते रहने को भी विवश होते हैं।

आम आदमी ही नहीं, बच्चे, बीमार और गर्भवती महिलाएँ, जिनका प्रसव निकट होता है और जिन्हें हॉस्पिटल जाने की आपातस्थिति होती है, तक इस चक्रव्यूह में फँसकर रह जाते हैं। कई बार जिसका खामियाजा उन्हें अपनी जान देकर चुकानी पड़ती है। यदि किसी वीआईपी अथवा वीवीआईपी मूवमेण्ट की वजह से रोज कुआँ खोदकर पानी पीने वाले किसी व्यक्ति को उनके कारण उस दिन काम नहीं मिल पाता, जिसके परिणामस्वरूप उसका परिवार फाका करने को मजबूर हो सकता है तो इसका उत्तरदायी कौन होगा? कोई उत्तरदायी नहीं होता। हमारे तथाकथित धार्मिक जुलूसों और शोभायात्राओं की भी कमोबेश यही भूमिका होती है। कारवाँ गुजर जाता है और लोग गुबार देखते रह जाते हैं। हमारे वीआईपी लोग अथवा वीवीआईपी लोग एवं धार्मिक जुलूस और शोभायात्राएँ जहाँ से गुजरती हैं, प्रायः अपने पीछे लोगों की परेशानियों और आँसू छोड़ जाती हैं और इसके बावजूद वे चाहते हैं कि महान लोगों की फेहरिस्त में उनका नाम आए।

लाखों-करोड़ों की मदद करना जिनकी संवैधानिक और नैतिक जिम्मेदारी है वे अपने पूरे जीवनकाल में एक-आध की मदद कर ऐसा माहौल बनाते या बनवाते हैं जैसे उनके जैसा महान, उदार, संवेदनशील, राष्ट्रसेवक, समाजसेवक और जनसेवक कोई नहीं। मीडिया का एक वर्ग भी उनकी इस छद्म प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने से बाज नहीं आता। अब आम आदमी जैफरसन, लिंकन, महात्मा गाँधी, लालबहादुर शास्त्री, राममनोहर लोहिया अथवा दीनदयाल उपाध्याय के जीवन के प्रेरक प्रसंगों को पढ़कर करे भी तो बेचारा क्या करे? ये तो उन लोगों के लिए हैं, जो सत्ता के छोटे-से लेकर बड़े पदों पर आसीन हैं। अब उन्हें तो पढ़ने की फुर्सत नहीं। आम आदमी पढ़े और अपना सर धुने कि कहाँ तो वे महान जननायक थे और कहाँ हमारे आज के अधिकांश जनविरोधी सत्तालोलुप केवल अपना घर भरने की फिराक में रहने वाले नायक। यही उसकी नियति है लेकिन इसमें परिवर्तन अपेक्षित है।

## कुशलता और कौशल की अवधारणा

आनन्द प्रकाश\*

अनीश मिश्र\*\*

तात्कालिक रूप से चल रहे सामाजिक और राजनीतिक विमर्श में 'कुशलता' की चर्चा ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। इसको एक लक्ष्य की तरह और अक्सर एक उपाय (निमित्त) की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। कुशलता और कौशल की अवधारणा को कैसे समझा जाए, इस पर एक राष्ट्रीय स्तर पर विमर्श की आवश्यकता है। कुशलता प्रयोजन है या स्थिति? इस सन्दर्भ को देखने का प्रयास किया गया है।

इस लोक में प्रत्येक प्राणी मन, वाणी और शरीर—इन तीन रूपों से कार्य का सम्पादन करता है। मनुष्य तथा मनुष्येतर समस्त जीव इन्हीं के माध्यम से कर्म करते हुए लोक-व्यवहार तथा विकास के क्रम को आगे बढ़ाते हैं। समाज का अधिकतर व्यवहार और व्यापार किसी-न-किसी प्रयोजन से गतिमान है, क्योंकि प्रयोजन के अभाव में किसी भी व्यक्ति की कार्य में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'। अपनी विवेकशीलता के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से पृथक् है, क्योंकि इसके भीतर कर्म को करने तथा उसके फल-प्राप्ति हेतु एक संकल्प शक्ति विद्यमान होती है, इसके कारण मनुष्य में समस्त श्रेष्ठकर्म उत्पन्न होते हैं—संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ वस्तुतः मनुष्य में संकल्प करने तथा कार्य करने की अनन्त शक्तियाँ वैसे ही विद्यमान होती हैं, जैसे विद्युत में। जिस प्रकार विद्युत कहीं प्रकाश के रूप में, कहीं गति के रूप में, कहीं शीत के रूप में, कहीं उष्ण के रूप में, कहीं शक्ति इत्यादि अनन्त रूपों में परिवर्तित होकर अपनी उपादेयता को सिद्ध करती है, वैसे ही मनुष्य ने सभ्यता के आरम्भिक काल से लेकर आज 21वीं सदी में भी विविध क्षेत्रों में विकास कर अपनी उपयोगिता तथा श्रेष्ठता को स्थापित किया है। विकास की इस परम्परा में

\* प्रो. आनन्द प्रकाश, मनोविज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

\*\* डॉ. अनीश मिश्र, मिराण्डा हाउस कॉलेज।

मनुष्य की इच्छाशक्ति तथा उसके योग्यता की प्रमुख भूमिका रही है—अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् । यद्यद्धिं कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ उसने बदलते हुए राष्ट्र, समाज एवं पर्यावरण के अनुसार भी कर्मों को करने में निपुणता प्राप्त की है। मनुष्य की कार्य को निश्चित रूप से सम्पादन करने की इस निपुणता को ही 'कुशलता' कहा जाता है। कुशल शब्द वर्तमान में दक्ष, प्रवीण इत्यादि अन्य अर्थों में भी रूढ़ हो गया है, किन्तु कुशल शब्द कर्मशब्द के साहचर्य से बृहद अर्थ को अपने अन्दर समाहित किए हुए है। प्राचीन काल में कुशल शब्द का प्रयोग वस्तुतः 'कुश' नामक घास को निकालने में चतुर ब्रह्मचारी के लिए प्रयुक्त होता था। चूँकि उसको पृथ्वी से निकालने में किसी प्रकार की असावधानी से हाथ कटने की पूरी सम्भावना होती थी, जिसके फलस्वरूप उसे लाने में प्रत्येक मनुष्य समर्थ नहीं होता था। अतएव कुश को जो लाता था, उसे कुशल कहा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे कुशल शब्द कर्म करने की योग्यता अथवा निपुणता के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अतएव कुशलता के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि—किसी निश्चित कार्य को सम्पादित करने में सहज ढंग से किया गया प्रयास एक ज्ञात एवं अभ्यास पूरित शैली से किया जाए, जो पूर्व निर्धारित उत्पाद को प्राप्त करने में सहायक हो, वहाँ पर कुशलता को समझा जा सकता है।

कुशल शब्द की महत्ता और उसकी श्रेष्ठता का बोध श्रीमद्भागवद्गीता के इस कथन से स्पष्ट होता है, जिसमें कुशल शब्द एक महावाक्य के रूप में प्रस्तुत हुआ है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। गीता में प्रयुक्त हुआ यह महावाक्य तत्कालीन समाज से लेकर आज तक मनस्वियों को कर्म में प्रवृत्ति और अकर्म में निवृत्ति का उपदेश देता आ रहा है। इसके अनुसार किसी कर्म को करने में शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक दक्षता या निपुणता ही योग है। अर्थात् कुशलता सम्भवतः मन एवं शरीर का एक ऐसा समेकित सम्पादित प्रक्रम है, जिसमें वांछित परिणाम प्राप्त करने हेतु हम अपने समस्त अवयवों के साथ एक सम्पूर्णता में व्यवहार करने की विशिष्टता प्राप्त करते हैं, तब कुशलता के निकट होते हैं। इस प्रकार कुशलता का योग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वर्तमान सन्दर्भ में योग स्वास्थ्य विज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में जाना जाता है, किन्तु यह इसका व्यावहारिक पक्ष है। योग को परिभाषित करते हुए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि—भोग के समस्त विषयों में आसक्ति का परित्याग करके तथा सिद्धि और असिद्धि दोनों में समान बुद्धि को धारण करते हुए कर्तव्य कर्मों को करना चाहिए, इस प्रकार कर्मों में समत्व बुद्धि का नाम ही योग है। यहाँ समत्व बुद्धि का एक अर्थ यह भी है कि—हमारे समस्त अवयवों के पास अपनी बुद्धि होती है। उसकी समान रूप से सक्रियता ही समत्व का भाव देती है, जैसे अगर हाथ उठाने की जरूरत है; तो हाथ उतना ही उठे, जितना उस कार्य को पूरा करने के लिए जरूरी है। उससे कम और ज्यादा समत्व के भाव को अधूरापन देगा। 'सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योगमुच्यते'।

मनुष्य पंचमहाभूत तत्त्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) से युक्त शरीर को धारण करता है। जिसके फलस्वरूप प्रकृति में होने वाली घटनाओं तथा परिवर्तनों से वह प्रभावित होता है तथा उसके व्यवहार में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं, जो कि स्वाभाविक हैं। मनुष्य पाँच कर्मेन्द्रियों (वाणी, हाथ, पैर, गुदा और जननेन्द्रिय), पाँच ज्ञानेन्द्रियों (आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा), मन और बुद्धि से युक्त होता है। इनमें कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियों के अधीन होकर कार्य करती हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ संयुक्त होकर प्रवृत्त होती हैं। अतएव विषय-भोग में तत्पर स्वभाव वाली इन्द्रियाँ मन के द्वारा बलपूर्वक संचालित की जाती हैं, जैसे समुद्र में पड़ी हुई नौका वायु के द्वारा अपने गति की दिशा में संचालित की जाती है। कौशल युक्त आचरण में अनेक प्रकार की बाधाएँ एवं कठिनाइयाँ आ जाती हैं। इसमें प्रमुख स्थान (कारण) उसके ध्यान की अस्थिरता है। जैसे सूर्य में धागा डालने के लिए हाथ, आँख और मन का एकाग्र होना आवश्यक है। अगर ध्यान विचलित हो अथवा हाथ मस्तिष्क के आदेशानुसार आचरण न करे, तो धागा डालना सम्भव नहीं होगा। अगर उसकी दृष्टि केन्द्रिकता (ध्यान की एकाग्रता) की क्षमता कम हो तो वह भी कुशलता में बाधक हो सकती है।

मन का स्वभाव भी घड़ी के पेण्डुलम की तरह चंचल तथा संकल्प-विकल्प वाला होता है। यह चंचलता संकल्प-विकल्प के बीच उलझते मन-मस्तिष्क को कुशलता प्राप्त करने में बाधक होती है। अतएव मन की ऊर्जा का भी समान वितरण आवश्यक है। अगर संवेग की ऊर्जा एक नियन्त्रित ढंग से समस्त अवयवों में संचालित नहीं होती है और एक प्रकार का आत्म-अनुशासन भी नहीं है, तब दिया गया प्रशिक्षण बहुत अधिक समय ले लेता है। अभ्यास यदि सकारात्मक परिणाम न दे, तब उत्साह बनाए रखना कठिन होता है।

प्राणी अनेक प्रकार के द्वन्द्वों (सुख-दुःख, हानि-लाभ, लोभ-मोह, जय-पराजय, यश-अपयश, जन्म-मरण, धर्म-अधर्म, शीत-उष्ण) में पड़ता है। मनुष्य की यह द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति कर्तव्यकर्म से विमुख करती हुई आत्मकेन्द्रित हो जाती है, जिसके फलस्वरूप न तो प्राणी आत्मोद्धारक बन पाता है और न ही परोद्धारक। मनुष्य आत्मकेन्द्रित होकर विषयों का चिन्तन करता है। इससे उन विषयों के प्रति आसक्त होता है और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और प्राप्ति में बाधा पड़ने पर क्रोधित होता है तथा क्रोध के कारण मूढ़ता आती है। उसी मूढ़ता से मतिभ्रम (स्मृति का नाश) होता है।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः ..... बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

आज वस्तु जगत ने अनेक प्रकार के आकर्षण और उसको पाने की सम्भावनाएँ उत्पन्न की हैं। उसकी प्राप्ति में असफल होने के कारण अवसाद और तनाव की अधिकता बढ़ गई है। इसी कारण अनेक प्रकार की कुण्ठा एवं निराशाएँ समाज में नए

रूप में प्रकट हो रही हैं, जो मानव बुद्धि के विकास को भी बाधित कर रही हैं। इन सबका मूल कारण एक मात्र प्रासंगिक कर्म न करने की क्षमता का प्रभाव भी देखा जा सकता है। अतएव इन क्षमताओं को समझना और उनके सम्यक विकास के लिए प्रयास, अभ्यास और संवर्धन स्वस्थ और प्रतिशील समाज की आधारशिला है। अपनी इस क्षमता और योग्यता को पहचानना तथा उसको प्रासंगिक ढंग से सहेजकर पूर्ण विकसित करना जरूरी है। हर क्षमता उतनी ही सम्माननीय है, जितना समाज उसको महत्त्व देता है। लेकिन सामाजिक व्यवस्थाएँ एवं उससे जुड़ी सामाजिक संस्थाओं ने क्षमताओं का पदानुक्रम निर्मित कर दिया है। इससे कुछ को ज्यादा और कुछ को कम महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

प्रति क्षमताओं का सही आकलन और समत्व बुद्धि से उसका निष्पादन तभी सम्भव होगा, जब समाज की संस्थाएँ जैसे—परिवार, स्कूल, न्याय संस्थाएँ और समाज को चलाने वाले अन्य संस्थान समतामूलक उपागम को केन्द्रित महत्त्व दें। अगर योग्यताओं को कोटिक्रम में रखें तो लाघव का रागात्मक भाव स्थापित होगा। गौरव भाव का और अपने कौशल के प्रति अनुराग सम्भवतः वह पहली शर्त है, जिसे पूरा किए बिना लौकिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अगर एक बार सफलता प्राप्त भी हो गई, तो भी वो अकस्मात् ही होगी। उसको नियन्त्रित एवं ऐच्छिक निष्पादन में लगातार बदलना सम्भव नहीं होगा। समाज को ऐसे विधान एवं व्यवस्थाओं को प्रोत्साहित एवं महिमामण्डित करना होगा। जहाँ किसी व्यक्ति में यह विश्वास जगे कि वह अपने जीवन में सफलता चाहता है, तो कुशलता के विकास पर ध्यान देने को बाध्य हो जाए।

कहा भी गया है कि कर्म में कुशलता ही योग है और यह योग समत्वबुद्धि का परिणाम है। समत्वबुद्धि से तात्पर्य मनुष्य अपने स्वधर्म को बिना किसी लघुता तथा दीर्घता की बुद्धि से कर्तव्य कर्म को करे। कर्तव्य कर्म से तात्पर्य 'आत्मनो मोक्षाय, जगत हिताय च' में है अर्थात् आत्ममुक्ति तथा जगत का कल्याण है। प्रकारान्तर से इसका एक अर्थ और भी हो सकता है कि अगर हम 'मोक्ष' मुक्ति चाहते हैं, तो ऐसा अपने जगत का भला करने से होगा। इस जगत से तात्पर्य सिर्फ अपना कुटुम्ब, परिवार, जाति या बिरादरी नहीं है, बल्कि उसके जगत में विद्यमान सभी जीव सम्मिलित होंगे। इस प्रकार के कर्म ही कर्तव्य कर्म है। कर्तव्य कर्म को करने में प्रत्यक्ष रूप से जिसके समक्ष कृष्ण थे ऐसे अर्जुन को भी किंकर्तव्यविमूढ़ता (क्या करें, क्या न करें) प्राप्त हो गई थी। जिसके फलस्वरूप कृष्ण ने कर्मों में कुशलता के स्वरूप का उपदेश देते हुए समत्वबुद्धि योग का कथन किया। उनके अनुसार अपने लोक-व्यवहार के अनुसार कार्य में छोटे-बड़े का भेद किए बिना निष्ठापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य में ऐसा देखा जाता है कि कर्म की कोटि के अनुसार उसको करने में लाघव और गौरव का अनुभव करता है, तभी उसकी बुद्धि न्यूनता और उदात्तता से

युक्त हो जाती है और वह सुख-दुःख रूपी विषमता को प्राप्त हो जाता है। श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नापनोति किल्बिषम् ॥ आज जीवन में सहज और स्वाभाविक कर्मों को दोषयुक्त मानकर परित्याग करने की भावना तथा उससे पृथक् कर्मों को आत्मसात् करने की भावना देखी जाती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वच्छता अभियान से देखा जा सकता है। किन्तु गीता के अनुसार 'जिस प्रकार धुएँ से अग्नि दूषित होती है उसी प्रकार समस्त कर्म किसी-न-किसी दोष से युक्त होते हैं। अतएव उनका परित्याग नहीं किया जा सकता है। लोक-मंगल तथा राष्ट्र-संवर्धन के निमित्त किया गया प्रत्येक कर्म कर्तव्य की कोटि में आता है—सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वरम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ समत्वबुद्धि पुरुष अपने स्वाभाविक कर्म में लगकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'। अपने स्वभाव के अनुसार प्राप्त हुआ कर्म स्वतः खुले हुए स्वर्ग के द्वार से कम नहीं होता है, इसलिए इसे देखकर कभी भी भयभीत नहीं होना चाहिए। यहाँ पर स्वभाव का सम्भवतः एक अर्थ यह भी है कि—वह भाव जो अपने नैसर्गिक रूप से अवस्थित हो। सम्भवतः हर चीज में कुछ नैसर्गिक अर्थात् प्राकृतिक रूप से प्रदत्त गुण होते हैं, किन्तु सभ्यताओं में जीवन जीने की मजबूरियाँ कुछ को महत्वपूर्ण और कुछ को हीन बनाती हैं। कुशलतापूर्ण कार्य का सम्पादन ही भय से मुक्ति देता है। शायद इसी स्वधर्म के पालन की शिक्षा हमारे शास्त्रों में दी गई है। कार्य में निपुणता अथवा कुशलता में व्यक्ति का अज्ञान सबसे बड़ा बाधक है, जो असफलता का भय उत्पन्न करता है। इससे युक्त होकर मनुष्य कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता है और कर्म न करने से भी मनुष्य भय से मुक्त नहीं होता है अपितु वह अनेक प्रकार की आलोचनाओं और अपकीर्ति का भागी भी बनता है। अतएव द्वन्द्वों से रहित होकर स्वधर्म का पालन करना ही श्रेष्ठ है—'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। अथचेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (गीता. 2/32) नीतिशास्त्र में भी उत्तम कोटि के मनुष्य के लिए यह कहा गया है कि वह किसी भी अवस्था में आरम्भ किए गए कार्य का परित्याग नहीं करता है। 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ (नीति. 27) समत्वबुद्धि अर्थात् कुशलता का स्वरूप उन्हीं लोगों में प्राप्त होता है, जिनका अपनी इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण होता है। इसी नियन्त्रण के कारण बहुविध विकल्पों का अभाव होकर संकल्प का ज्ञान प्राप्त होता है और एक निश्चात्मक कर्म का बुद्धि के साथ साक्षात्कार होता है। निश्चयात्मक बुद्धि के अभाव में अपने उद्देश्य और विधेय का ज्ञान नहीं होता और अशान्ति प्राप्त होती है, जिसके कारण सुख का अभाव होता है—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्। वस्तुतः सुख अनुकूल वेदनीय भावना है और दुःख प्रतिकूल वेदनीय भावना है। सुख हेतु निश्चयात्मक बुद्धि

का होना अनिवार्य है। बुद्धि के अभाव में निश्चयात्मक शक्ति का विकास नहीं हो सकता है 'अध्यवसायी बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्'। समत्व बुद्धियुक्त मनुष्य पाप और पुण्य दोनों का परित्याग कर देता है। समत्व बुद्धि से तात्पर्य ना तो अधिक खाने वाले से है, न उपवास करने वाले से, न अधिक शयन करने वाले और ना ही निरन्तर जागरण करने वाले से ही। अपितु इसका तात्पर्य यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य प्रवृत्ति रखने वाले तथा यथायोग्य शयन-जागरण करने वाले से है, जिससे समस्त प्रकार के दुःखों का नाश होता है।

वस्तुतः कुशलता और कौशल मनुष्य के जातिगत और बुद्धिगत दो धर्म हैं अथवा दो प्रकार की उपाधियाँ हैं। ये दोनों प्रकार की उपाधियाँ गुणों के अनुरोध से ही प्राप्त होती हैं। 'कुशलता' मानवता की तरह ही जातिगत गुणों का ही प्राणप्रद धर्म है तथा कौशल बुद्धिगत धर्म है। अर्जुन सभी प्रकार की शस्त्र विद्याओं में कुशल था, किन्तु औचित्य की प्राप्ति होने के उपरान्त कौशल दिखाने में असमर्थ प्रतीत होने लगा और विषाद को प्राप्त हो गया, जिसके फलस्वरूप कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया तथा अर्जुन युद्ध के लिए तत्पर हुआ और विजयश्री को प्राप्त किया। मनुष्य को आत्मकल्याण हेतु स्वयं ही तत्पर होना पड़ेगा और यह तभी सम्भव होगा, जब वह अन्तःकरण की शक्ति से युक्त होगा। सर्वप्रथम प्राणी आन्तरिक विजय या पराजय स्वीकार करता है तथा बाद में बाह्य रूप से। अतः मनुष्य को अपना कल्याण स्वयं करना चाहिए और अपने-आपको अवसाद से दूर रखना चाहिए। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है। 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवयादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ (गीता 6/5) जिसने मन और इन्द्रियों सहित शरीर पर विजय प्राप्त किया हुआ है, उसी का मन और इन्द्रिय सहित शरीर मित्र है और यदि इससे पृथक् अवस्था है, तो लोग अपने-आप ही शत्रुत्व की तरह वैर करते हैं। 'बन्धुरात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। आत्मनस्तु शत्रुत्वे बर्तेतात्मैव शत्रुवत्'। (गीता 6/6) इस जीवन में चाहे आत्म-विकास अथवा कल्याण की आकांक्षा हो या पर-कल्याण की भावना हो, दोनों ही अवस्था में समत्वबुद्धि रूपी कुशलता तथा कौशल की अवधारणा अपेक्षित है।

इस पृष्ठभूमि में सम्भवतः ऐसे उपकरणों की आवश्यकता है, जो मनुष्यों में स्वभावपरक गुणों की पहचान करके उसको संवर्धित करने की व्यवस्था एवं विधान बनाए। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कौशल और कुशलताओं की जितनी विविधताएँ पहचानी जाएँगी और उनको गुणवत्ता के हिसाब से जितना सम्बन्धित किया जाएगा, समाज उतना ही स्वस्थ एवं हितकारी होगा। अतः एक ऐसी सामाजिक-व्यवस्था एवं सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता है, जो कौशल सम्मत आचरण, चाहे वह जिस सच में हो उसको प्रोत्साहित किया जाए। इसका प्रारम्भ पारिवारिक समाजीकरण, स्कूली-शिक्षा एवं प्रशिक्षण-कार्यक्रमों द्वारा ही किया जा सकता है।

## निज कवित्त केहि लाग न नीका

श्रीराम परिहार

गोस्वामी तुलसीदास भारतीय वाङ्मय में विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे भक्त शिरोमणि हैं। वे कवि श्रेष्ठ हैं। कवि कर्म उनके रचनाकर्म से महिमा-मण्डित हुआ है। कविता धन्य हुई है। उनकी कविता सामाजिक मूल्यों से जुड़कर लोकमंगल की भावना को व्यापक स्तर पर रेखांकित करती है। उनकी कविता एक 'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' का उद्घोष करती हुई जीवन के परम और चरम लक्ष्य को पाने की निजता के स्तर पर अपनी भूमिका स्पष्ट करती है। दूसरी ओर वह निखिल विश्व के कल्याण की कामना लिए रामकथा का प्रणयन करती है। गोस्वामी तुलसीदास अपनी कविताई का उद्देश्य अनेक तरह से स्पष्ट और स्थापित करते हैं। स्वयं को अति विनम्र भाव से 'कवि न होऊ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्या हीनू' स्वीकार करते हैं। यह भी कहते हैं कि उनमें कविता करने की कला और ज्ञान नहीं है—'कवित्त विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहहुं लिखि कागद कोरे।' फिर भी वे रामचरितमानस जैसे सुधासागर की रचना में प्रवृत्त होते हैं। वे बहुत सुन्दर बात कहते हैं—'निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होऊ अथवा अति फीका।'

यह प्रमाणित है कि अपनी रचना अच्छी लगती है। वह भले ही सरस हो या फीकी हो। गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन जितना सहज है, उससे भी कहीं अधिक गूढ़ है। वे अपने सम्पूर्ण रचना-कर्म में रचना के महत् उद्देश्य और स्तर को बार-बार संकेतिक करते रहते हैं। वे स्पष्टतः कहते हैं कि कविता दोनों ध्रुवों पर खरी सिद्ध होनी चाहिए। पहले तो वह रचनाकार के मन को सुख देने वाली हो। स्वान्त-सुख ऐसा कि कवि को यह तोष हो कि उसने एक उत्तम और सार्थक रचना की। दूसरे उस रचना के सामाजिक सरोकार इतने प्रगाढ़ हों कि वह गंगा के समान सबका उद्धार करने वाली हो। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई।'



यह दृष्टि बड़े कवि की होती है। यह दृष्टि लोकेषणा और वित्तेषणा के त्यागी कवि के पास ही होती है। कवि की निजता धीरे-धीरे तिरोहित होकर जब समष्टि के मंगल-विधान का अपनी रचना या अपने कर्म के माध्यम से उपक्रम ढूँढ़ती है और पाती है, तब यह समझ प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास निज कवित्त के परिवेश को इतना विस्तार देते हैं कि वह 'सकल लोक जग पावनी गंगा बन जाता है।'

गोस्वामी तुलसीदास की कृति रामचरितमानस कवि को स्वयं के स्तर पर तो नीकी लगी ही; वह लोक के धरातल पर भी अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई। इससे साहित्य के मर्म और धर्म दोनों को समझने में हमें सुविधा होती है। तुलसीदास की रचना या कविता नीकी बन गयी; इसकी विवेचना अनेक सिद्ध, मुनि, ज्ञानी करते आ रहे हैं। तुलसीदास ने अपनी कहन के लिए काव्य के प्रबन्ध रूप का चयन किया। उस प्रबन्ध के लिए रामकथा उन्हें कलि-कलुष का नाश करने वाली अनुभव हुई—'बुध विश्राम सकल जनरंजनि, रामकथा कलि-कलुष विभंजनि।' रामकथा के चरित नायक के रूप में उन्हें धीरोदात्त, धीरललित और धीरप्रशान्त तीनों वृत्तियों के समवेत स्वरूप 'श्रीराम' मिल गए। श्रीराम के जीवन के कोटि-कोटि प्रसंग पूरे युग, पूरे समाज, पूरे धर्म, पूरे ज्ञान, पूरे कर्म और पूरे योग के क्षेत्र को संस्पर्शित तथा प्रभावित करते हैं। इस नाम का चयन और इस चरित के गान का संकल्प तुलसीदास परम्परा की जीवन्तता और लोकमंगल के लिए उपादेयता को ध्यान में रखकर करते हैं। 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा, अति पावन पुराण श्रुति सारा।'

गोस्वामी तुलसीदास को अपनी रचना इसलिए अच्छी लगी, क्योंकि इसमें 'श्रीराम' जैसे चरित नायक की मानव धरातल पर अवतरित संघर्ष-गाथा है। श्रीराम भवन को त्यागकर वन का वास स्वीकार करते हैं। जो पारिवारिक टूटन को टालते हुए पारिवारिक सामंजस्य को स्थापित करते हैं। जो साम्राज्य विस्तार के स्थान पर प्रेम, सहयोग और सत्य के आग्रह से भारतवर्ष के छोटे-छोटे गणराज्यों का एकीकरण करते हुए अखण्ड राष्ट्र की अवधारणा को साकार करते हैं। जो अनेक अन्त्यजों को गले लगाते हैं। जो समाज से बहिष्कृतों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाते हैं। जो राक्षसों द्वारा पीड़ित हैं, उनकी रक्षा करते हैं। जो ज्ञानियों, विद्वानों, चिन्तकों और अनुसन्धित्सों के आश्रमों में जाकर उन्हें प्रणाम करते हैं। उन्हें मान देते हैं। जो पक्षियों तक का यथोचित संस्कार करते हैं। जिसके वियोग में पशु भी व्याकुल हो उठते हैं। जो नंगे पाँव कठिन भूमि पर चलते हुए भारतवर्ष के समाज और गाँवों से गुजरते हुए अपने करुणा-जल की झारी के नीर से उनके दुःख-दर्द के घाव धोते हैं और सबको निरुज शरीर कर देते हैं। तुलसीदास ऐसे राम और ऐसी रामकथा का आवाहन करते हैं—

*रामकथा मन्दाकिनी, चित्रकूट चितचारु।  
तुलसी सुभग स्नेह वन, सिय रघुवीर विहारु॥*

इस रूपक के द्वारा एक अन्य संकेत भी मिलता है कि श्रीरामचन्द्र केवल मनुष्य नहीं हैं। वे भुवनव्यापी शक्ति के अंश भी हैं। वे 'व्यापक विश्वरूप भगवाना, तेहि धरि देह चरित कृत नाना' है। तुलसीदास ऐसी कथा का प्रणयन करते हैं, जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधरते हैं। धर्मक्षेत्र और कर्मक्षेत्र दोनों संयमित और सत्यव्रती होते हैं। ऐसी 'सकल जन रंजनी' और 'सुनत सकल मुद मंगल देनी' रामकथा को तुलसीदास अपने रचना-कर्म से अमित विस्तार देते हैं और अनिर्वाच्य विश्राम प्राप्त करते हैं। जिस रामकथा को 'वाल्मीकि नारद घटजोनि, निज-निज मुखनि कहि निज होनी' उसी रामकथा को तुलसीदास लोकभाषा में लिखते हैं। भाषाबद्ध करते हैं, 'भाषाबद्ध करवि मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।' उसे लोक का संस्कार देते हैं। उस कथा को माटी की सुवास देते हैं। लोकभाषा केवल भावों या विचारों की अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं होती; वह लोक के संस्कार, अनुष्ठान, कर्म और वैचारिक सम्पदा को भी अप्रत्यक्ष अभिव्यक्त करती है। तुलसीदास की रचना के नीकी लगने में उसकी लोकभाषा 'अवधी' में निबद्धता बहुत बड़ा कारक है। अपनी भाषा, अपनी बानी में रामकथा को तुलसीदास ने लिखकर राम के चरित्र को या एक मर्यादा की लीक पर चलने वाले पुरुष के जीवन को भारत और भारत के बाहर सिन्धु पार तक पहुँचाने का कवि-कर्म किया है और स्वयं में यह अनुभव किया कि रामकथा की सरिता में अवगाहन कर कवि की 'काक होई पिक बकहूँ मराला' की स्थिति हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास रामकथा को भाषाबद्ध करके उसे अमित विस्तार देने से पूर्व अनेक देवी-देवताओं की स्तुति करते हैं। उनकी आराधना करते हैं। उन्हें मनाते हैं कि वे उन्हें कवित्त विवेक प्रदान करें। ऐसी प्रतिभा का प्रस्फुटन हो कि राम की अमित कथा को और राम के गूढ़ चरित्र को भाषा में वर्णित कर सकें। सरस्वती के मन्दिर में तुलसीदास अहं शून्य और अहंकार रहित होकर जाते हैं। एकदम भारहीन हो जाते हैं। सरल-सहज-सीधे प्रवेश करते हैं। बिल्कुल बालक बन जाते हैं। कहते हैं कि वे तो रामचरित को तोतली वाणी में गा रहे हैं, उनकी बात सुनकर ज्ञानी-ध्यानी, मुनि-विज्ञानी इसी तरह प्रसन्न होंगे; जैसे बालक की तोतली बात सुनकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। बड़ी रचना करने के लिए मन भी बड़ा और विकार रहित होना चाहिए। वे वर्ण की आराधना करते हैं। अर्थ का सन्धान करते हैं। रस का आवाहन करते हैं। छन्द का अनुशासन चाहते हैं। वाणी और विनायक की वन्दना करते हैं। भवानी और शंकर की स्तुति करते हैं, जो श्रद्धा और विश्वास के प्रतिरूप हैं। तुलसीदास की रचना की गहराई में श्रद्धा और विश्वास बहुत सघन रूप में अवस्थित हैं। उसके बाद वे गुरु के चरणों की वन्दना करते हैं। गुरु, सरस्वती, पवनसुत, राम और शिव—ये पाँच तुलसीदास की भक्ति और रचना-शक्ति के आस्था केन्द्र हैं।

रामचरितमानस का प्रारम्भ 'बन्दहूँ गुरु पद पदुम परागा' चौपाई से होता है। वे यह सुनिश्चित और दृढ़ होकर कहते हैं कि 'श्री गुरु पद नख मणि गण ज्योति, सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती।' गुरु जीवन में ज्ञान का स्फुरण करता है। दिव्यज्योति प्रकट कराता है। ज्ञान-चक्षु खोलता है। गुरु पूजन का भाव है—सत्य, ज्ञान और अनुभव का पूजन करना। तुलसीदास ने इस दृष्टि से भारतीय सनातन परम्परा का निर्वाह कर उसका पोषण किया है।

'वाणी रसवती यस्य सफलं तस्य जीवनम्।' सुकवि को रसवती वाणी मिल जाए, तो जीवन सफल हो जाए। कवि के जीवन की सफलता उसकी रचना की कालजयिता और सुग्राह्यता पर निर्भर होती है। यदि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' है, तो काव्य के आनन्दमय कोष की प्राप्ति की उत्कण्ठा बड़े कवि के भीतर लहलहाती रहती है। यह वाणी वरदायिनी सरस्वती की कृपा के बिना सम्भव नहीं है। सरस्वती ही जड़ता को तोड़ती है। विचारों को तरल और भाव को सहज बनाती है। तुलसीदास वर्ण-अर्थ की साधना द्वारा अक्षरब्रह्म, पूर्णब्रह्म का आराधन करते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के मूल में अक्षरब्रह्म की ध्वनि-शक्ति विराजित है। ध्वनि के स्फुरण और रसमय निःसृति में वाग्देवी सरस्वती रूपी वाक्शक्ति सक्रिय रहती है। तुलसीदास अटल विश्वास के साथ कहते हैं कि सरस्वती कठपुतली की तरह उसी के जिह्वा रूपी आँगन में नाचती है, जिस पर राम की कृपा होती है। राम जिसे अपना जन मानते हैं। रामकथा-सम्भाषण में सरस्वती प्रमुख है। लेखन-कला में गणेश जी प्रवीण हैं। इसलिए 'बन्दे वाणी-विनायकौ।' सरस्वती का निवास कवियों के हृदय में रहता है। परन्तु कवियों के हृदय में रहते हुए भी उनकी वाणी सरस तभी होगी, जब श्रीरामचन्द्र वाणी को प्रेरित करेंगे। श्रीरामचन्द्र जैसी प्रेरणा देते हैं, वैसी ही सरस्वती कवियों के मुख और लेखनी से शब्द निकालेंगी या लिखवाएँगी।

*सारद दारुनारि सम स्वामी, राम सूत्रधर अन्तरजामी।*

*जेहि पर कृपा करहिं जन जानी, कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥*

पवनपुत्र 'अतुलित बलधामं, हेमशैलाभ देहम्, दनुजवन कृसानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्' हैं। वे तुलसीदास के आराध्य हैं। तुलसीदास को श्रीराम प्रिय हैं। राम को वे हनुमान के माध्यम से ही पाते हैं। चित्रकूट के घाट पर सन्तन की भीड़ में हनुमान तुलसीदास को श्रीरामचन्द्र के दर्शन कराते हैं। उन्हें लखाते हैं। परिचय देते हैं। प्रेरित करते हैं। हनुमान तुलसीदास पर यह अनुग्रह न करते तो सम्भव है राम के दर्शन न हो पाते। इसलिए तुलसीदास अपनी रामचरितमानस को सरस और नीकी बनाने के लिए अंजनी-सुत की तीन नामों से वन्दना करते हैं—महावीर, हनुमान और पवनकुमार। 'महावीर विनवहुँ हनुमाना।' तुलसीदास के प्रेय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—'महावीर, हनुमान कहो, पुनि कह पवनकुमार, देव इष्ट अरु भक्त लिखि, वन्देउ

कवि त्रय बार ।' महावीर नाम से तुलसी ने इष्ट की वन्दना की। पवनकुमार नाम से देव रूप की स्तुति की। पवन देवता है। हनुमान नाम से भक्त रूप की आराधना की। महावीर बलवान और हर कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हैं। पवनकुमार सर्वत्र व्याप्त और सब कहीं जाग्रत देवता के रूप में उपस्थित रहते हैं। चारों युगों में जीवन्त प्रभाव उनका है। पवन सब जगह प्रसारित है। पवनपुत्र सब स्थान पर भक्तों की रक्षार्थ उपस्थित हैं। प्रत्येक गाँव में खेड़ापति बनकर बैठे हैं। वे सर्वश्रेष्ठ भक्त हैं। राम स्वयं उनके वश में हैं। 'सुमिरि पवनसुत पावन नामू, अपने वशकरि राखेहुँ रामू।' इसलिए तुलसीदास प्रार्थना करते हैं—

*प्रणवहुँ पवन कुमार, खलवन पावक ज्ञानधन ।  
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचाप धरा॥*

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास प्रारम्भ में ही अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देते हैं। वे श्रीराम-सीता के गुणग्राम रूपी पुण्य अरण्य में विहार करना चाहते हैं—'सीताराम गुणग्रामं पुण्यारण्य विहारिणौ।' अतः वे कपीश्वर, सरस्वती और अनेक देव-दनुज, नर-नाग, किन्नर-गन्धर्व, सन्त-असन्त, खल-सज्जन, अरि-मित्र सबको प्रणाम करते हैं। वे प्रशंसा-परिहास की चिन्ता नहीं करते। उन्हें जगत की रीति पता है। 'खल परिहास होई हित मोरा, काग कहहिं कल कण्ठ कठोरा।' जगत की बान को जान लेने, संसार को समझ लेने पर वे अपने कर्म में रत होते हैं। वे जानते हैं कि राम अनन्त गुण सम्पन्न हैं। उनकी महिमा अमित-अपार है। मुनियों ने, गुनियों ने नाना प्रकार से उनके गुणों का बखान किया है। शेष भी उनके गुणों का पूरी तरह वर्णन नहीं कर सकते। फिर भी तुलसीदास विनम्र भाव से कहते हैं—'तदपि जथाश्रुत कहहुँ बखानी, सुमिरि गिरापति प्रभुधनु पानी।' इसके लिए वे एक मार्ग चुनते हैं। राम के प्रिय शंकर हैं। शिव के आराध्य राम हैं। शिव निरन्तर राम-राम जपते हैं। राम और शिव में तुलसीदास ने जिस तरह परस्पर प्रीति दृढ़ाई, वैसी अन्यत्र नहीं। वे शिव को मनाते हैं। हर-गौरी को एक साथ संस्तुत करते हैं। कातर मन से पुकारते हैं। अपनी भक्ति का साक्ष्य देते हैं। अपनी समस्त सामर्थ्य को उमा-महेश्वर को समर्पित कर देते हैं। आर्त स्वर में अपनी वाणी की सार्थकता लोकभाषा में पाने की अनुकूलता चाहते हैं—

*सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ ।  
तौ फुर होई जो कहेउ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥*

इतना सब करने पर तुलसीदास रामकथा का प्रणयन करते हैं। मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। तुलसीदास के लिए राम 'एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास, एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।' चातक का प्रण

बड़ा कठोर किन्तु अविचल और एकनिष्ठ रहता है। एकनिष्ठ भक्ति के बल पर तुलसीदास सारे जीवन-जगत, सृष्टि-ब्रह्माण्ड, ज्ञान-वैराग्य, श्रद्धा-भक्ति, प्रेम-अनुराग, दर्शन-अध्यात्म के सारे आलोक-बिन्दु रामकथा में अनुस्यूत कर देते हैं। तुलसीदास का स्वारथ-परमारथ सब राम-सीता से सम्पृक्त है। वे युगल राम-सीता की वन्दना करते हैं—‘गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियतु भिन्न न भिन्न।’ सीता जगत-जननी हैं। राम सृष्टि के ओर-छोर में व्याप्त अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के हेतु हैं। उनका नाम ‘राम’ है। राम शब्द अग्नि बीज है। वह आलोकमय है। तुलसीदास राम नाम को जीभ-देहरी पर रखकर भक्ति करते हैं। रामकथा को गाते हैं। रामचरितमानस सरस और नीका बन जाता है।

*मुनि दुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।  
जे यह कथा निरन्तरहिं, सुनहिं मानि विश्वास॥*

## चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता

सुनील बाबुराव कुलकर्णी\*

मध्यकालीन कृष्णभक्त सन्त कवियों में बंगाल के सन्त कवि श्री चैतन्य महाप्रभु का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भावविभोर होकर, नाचते-गाते कृष्ण भक्ति में समरस होकर संकीर्तन रासनृत्य करना उनकी प्रमुख विशेषता रही है। बहुत से विद्वान उन्हें सदैव ही कृष्णभक्ति में समरस सन्त कवि के रूप में ही चित्रित करते रहे हैं। प्रायः यह देखा गया है कि जितनी उनके भक्ति, भजन और संकीर्तन रासनृत्य की चर्चा होती रही, उतनी उनके सामाजिक योगदान की चर्चा किसी ने नहीं की। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध उसी पूर्ति का लघु प्रयास है, जिसमें हमने बंगाल के सन्त कवि चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता के योगदान को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

प्रस्तुत मुद्दे के अन्तर्गत प्रथमतः श्रीचैतन्यदेव के समय की सामाजिक परिस्थिति का संक्षेप में जायजा लेने के बाद, प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पर प्रकाश डालकर, सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से चैतन्य चरित्र की मीमांसा की गयी है। तत्पश्चात् उनकी शिक्षा में स्थित मानवता के सूत्र, उनके द्वारा दिए गए जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के उपदेश, वर्णाश्रम धर्म की उनकी की हुई पुनर्व्याख्या, प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह, नैतिकता आदि पर आधारित उनके उपदेश, उनके द्वारा किया गया साम्प्रदायिकता का विरोध और सार्वभौम भाईचारे का समर्थन, असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों की मदद करने की अपेक्षा, उनके द्वारा किया गया अवतारवाद का विरोध और सार्वजनिक धर्म का स्वीकार, स्त्री-शिक्षा को उनका दिया हुआ महत्त्वपूर्ण स्थान, उनके द्वारा प्रतिपादित त्याग की महिमा, उनकी शिक्षा की

\* विभागाध्यक्ष, हिन्दी, उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, जलगाँव। सम्पर्क : sbkulkari@nmu.ac.in  
मोबाइल : 09422217600

सामाजिक उपादेयता तथा संक्षिप्त सार, सामाजिक समरसता प्रस्थापित करने हेतु उनके द्वारा किए गए मौलिक कार्य तथा उनके चरित्र की प्रासंगिकता आदि मुद्दों का विवेचन और विश्लेषण कर हमने उनकी शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता को उजागर करने का प्रयास किया है।

### चैतन्य कालीन सामाजिक परिवेश

यह सही है कि हर युग का सन्त, कवि या साहित्यकार अपने समय के परिवेश की उपज होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी उसके अपवाद नहीं हैं। यही कारण है कि उनकी शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता को देखने के पूर्व हम संक्षेप में चैतन्य कालीन सामाजिक परिस्थिति को स्पष्ट करना चाह रहे हैं। श्रीचैतन्य के आविर्भाव के पूर्व की तथा उनके समय की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए श्रीचैतन्यदेव के अन्यान्य भक्त श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद ने लिखा है—“श्रीचैतन्यदेव के आविर्भाव के पूर्व तथा उनके सम-सामयिक युग में समाज का मेरुदण्ड समझा जाने वाले वर्णाश्रमधर्म को नाना प्रकार से लकवा मार गया था। श्रीकविकर्णपूर, ठाकुर श्रीवृन्दावनदास और कविराज गोस्वामीचरण ने उस समय का जो सामाजिक चित्र अंकित किया है, उससे ज्ञात होता है कि समाज के भीतर उस समय कलियुग का भविष्य आचार प्रविष्ट हो गया था। समाज के ब्राह्मण लोग सूत्रमात्र चिह्न धारण करके केवल ज्ञानदान देने के कार्य में व्यस्त रहते थे, क्षत्रिय लोगों ने प्रजा की रक्षा में असमर्थ होकर, केवल राजा की उपाधिमात्र को सम्बल बना रखा था। वैश्य लोग बौद्ध या नास्तिक हो गए थे और शूद्र लोग ब्रह्मवृत्ति के विरुद्ध खड़े हो गए थे।”<sup>1</sup>

वर्णाश्रम धर्म में स्थित चारों आश्रमों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद इसी पुस्तक में समाज में स्थित चारों आश्रमों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए आगे लिखते हैं—“चारों वर्णों के समान चारों आश्रमों की अवस्था भी शोचनीय हो गई थी। विवाह में असमर्थ होकर लोग अपने ब्रह्मचारी होने का अभिमान करते थे, गृहस्थ लोग दूसरे आश्रमियों के प्रति यथोचित कर्तव्यपालन से विमुख होकर नाना प्रकार के अधर्मों से युक्त हो स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण में व्यस्त थे। वानप्रस्थ शब्द केवल नाममात्र के लिए ही रह गया था, ‘पन्चाशोर्द्ध, वं वनं व्रजेत्’ अर्थात् पचास वर्ष के बाद वनगमन करें, यह बात केवल पोथी में पड़ी रह गई थी; संन्यासी का अभिमान करके कुछ लोग संन्यास के पवित्र वेश का अपव्यवहार करते थे, उसे जीविकोपार्जन का साधन बना डाला था; केवल आपस में विद्या-कुलका अहंकार, विषय सुखों के भोगों में प्रतिद्वन्द्विता, मद्यमाँस के द्वारा अवैदिक देवताओं की पूजादि आडम्बर दिखाने में लोग आत्मगौरव का अनुभव करते थे।”<sup>2</sup> ऐसे विपरीत सामाजिक परिवेश में समाज में पुनः सामाजिक समरसता स्थापित करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा के द्वारा अपने चरित्र की न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से बल्कि

सामाजिक दृष्टि से भी उपादेयता सिद्ध की। यही कारण है कि आज इतने वर्षों के उपरान्त भी समाज में स्थित दुःखी प्राणियों के लिए उनका चरित्र एक मनोरम आश्रयस्थल लगता है। आज वर्तमान काल में भी कई लोग शीतलता, शांति और प्रेमरस का पान करने के लिए उनके चरित्र का बार-बार पठन करते हुए दिखाई देते हैं। इस कारण आगे हम प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पर प्रकाश डाल रहे हैं।

### प्रेमरस में समरस श्रीचैतन्य महाप्रभु

वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में बढ़ते बाजारवाद के कारण जैसे-जैसे मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है, वैसे-वैसे सन्तों द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग की हमें अधिकाधिक आवश्यकता महसूस हो रही है। रोजमर्रा के जीवन में यदि मानसिक तान-तनाव से हम मुक्ति पाना चाहते हैं, तो प्राचीन-मध्ययुगीन सन्तों की तरह हमें भी प्रेमरस में समरस होना आवश्यक हो गया है। ऐसी परिस्थिति में प्रेमरस में सम्पन्न श्रीचैतन्य महाप्रभु का चरित्र हमारे लिए आदर्श का द्योतक सिद्ध हो सकता है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग का यदि हम व्यावहारिक अनुसरण करते हैं तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि हम शत-प्रतिशत तनाव से मुक्त होकर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करेंगे। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग में एक प्रकार की मस्ती है, तन्मयता होती है, विकलता है। उनके प्रेम रस में छके हुए प्रेमी की दशा अद्भुत है। उसका आचरण लोकबाह्य आचरण हो जाता है; वह किसी प्रकार संसारी लोगों की कुछ भी परवाह न करके पागलों की तरह नृत्य करने लगता है। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो चैतन्य महाप्रभु का सम्पूर्ण चरित्र प्रेमरस में समरस दिखाई देता है। इस सन्दर्भ में प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं, “अध्यापकी का अन्त होने के बाद प्रभु का सम्पूर्ण जीवन प्रेममय ही था। अहा! उस मूर्ति के स्मरण मात्र से हृदय में कितना भारी आनन्द प्राप्त होता है? पाठक प्रेम में नृत्य करते हुए गौरांग का एक मनोहर चित्र अपने हृदय पटल पर अंकित तो करे। सुवर्ण के समान देदीप्यमान शरीर पर पीताम्बर पड़ा हुआ है। जमीन तक लटकती हुई चौड़ी किनारीदार बहुत ही सुन्दर धोती बाँधी हुई है। दोनों आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ी हुई हैं। खुली हुई आँखों की कारों में से आँसू निकलकर उन सुन्दर गोल कपोलों को भिगोते हुए वक्षस्थल को तर कर रहे हैं। दोनों हाथों को ऊपर उठाए गौरांग हरि बोल हरि बोल की सुमधुर ध्वनि से दिशा विदिशाओं को गुंजायमान कर रहे हैं। उनकी घुँघराली काली-काली लटें वायु के लगने से फहरा रही हैं। वे प्रेम रस में तन्मय होने के कारण कुछ पीछे की ओर झुक से गए हैं। चारों ओर आनन्द से उन्मुक्त होकर भक्तवृन्द नाना भाँति के वाद्य बजा-बजाकर प्रभु के आनन्द को और भी अत्यधिक बढ़ा रहे हैं। बीच-बीच में किसी-किसी भाग्यवान भक्त का गाढ़ालिंगन करते हैं, कभी किसी का हाथ पकड़कर उसके साथ नृत्य करने लगते हैं। भावुक भक्त



प्रभु के चरणों के नीचे की धूलि उठा-उठाकर अपने सम्पूर्ण शरीर पर मल रहे हैं। इस स्मृति में कितना आनन्द है, कैसी मिठास है, कितनी प्रणयोपासना भरी हुई है? हाय! हम न हुए उस समय। धन्य है वे महाभाग जिनके साथ महाप्रभु गौरांग ने आनन्दविभोर और प्रेमरस में समरस होकर संकीर्तन रास नृत्य किया।”<sup>3</sup> वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चैतन्य महाप्रभु की तरह यदि सर्व सामान्य व्यक्ति भी प्रेमरस में समरस हो जाएँगे तो उन्हें भी वही अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा, जिसका रसपान स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किया था। क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग सिर्फ स्वान्तः सुखाय न होकर बहुजन हिताय भी है। इस कारण उनके चरित्र की मीमांसा व्यक्तिगत स्तर तक सीमित न रखते हुए सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से भी उनके चरित्र का विश्लेषण होना आज युग की आवश्यकता बन गई है। यही कारण है कि आगे सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से श्रीचैतन्य चरित्र पर प्रकाश डाला जा रहा है।

#### श्रीचैतन्य चरित्र की सामाजिक उपादेयता

आज वर्तमान में आपा-धापी से भरे इस जीवन में यदि हमें शान्ति, शीतलता और दिव्य प्रेमानन्द की अनुभूति करनी है तो श्रीचैतन्य के चरित्र का पठन अवश्य करना चाहिए। कलिकाल के इस युग में श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र की सामाजिक उपादेयता स्पष्ट करते हुए उनके परम भक्त तथा ‘श्रीश्रीचैतन्य चरितावली’ के लेखक प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं—“महाप्रभु चैतन्य का कलि-पावन चरित्र प्रेमरस का अथाह सागर है। चाहे कोई कितना भी पीले, कितना ही उलीच ले, उस अगाध रस-सिन्धु में से अणुमात्र भी कम नहीं हो सकता। जिस किसी ने इस परम सुस्वादु आत्मानन्दमय रस का यत्किंचित भी पान किया, वही धन्य हो गया। ज्ञान-वैराग्य, भक्ति-प्रेम, त्याग और विरह के मूर्तिमान विग्रह श्रीकृष्ण प्रेमावतार-श्रीगौरांगदेव का करुणा विगलित जीवन दुःखी प्राणियों का एक ऐसा ही मनोरस आश्रय स्थल है। अतएव इस कलि-सन्तप्त-पाप-ताप जनित, नाना दुःख-दैन्य-दाहग्रस्थ मनुष्यों को यदि शीतलता, शान्ति और दिव्य प्रेमानन्द की अनुभूति करनी हो तो वे आनन्द और प्रेम के पर्याय चैतन्यदेव के इस पावन चरित्रामृत का पान अवश्य करें।”<sup>4</sup> श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र पठन के लाभ की ओर दिशा-निर्देश करते हुए वे पुनः इसी ग्रन्थ में आगे लिखते हैं—“चैतन्य देव के महान् जीवन में चैतन्यता का बीजारोपण तो ‘गया’ धाम में हुआ नवद्वीप में आकर वह अंकुरित और कुछ-कुछ परिवर्धित हुआ श्रीनीलाचल (जगन्नाथ पुरी) में वह पल्लवित और अमृतमय फलोंवाला बन गया। उसने अमृतमय सुस्वादु फलों से असंख्य प्राणी सदा के लिए तृप्त हो गए और उनकी बुभुक्षा का अत्यन्ताभाव ही हो गया। उसकी नित्यानन्द और अद्वैतरूपी दो बड़ी-बड़ी शाखाओं ने सम्पूर्ण देश को सुखमय और शान्तिमय बना दिया। इसलिए हमारी प्रार्थना है कि पाठक इस मधुमय आनन्दमय और प्रेममय दिव्य चरित्र को श्रद्धाभाव के साथ पढ़ें। इसके पठन से शान्ति मिलेगी,

परमार्थ का पुनीत मार्ग परिष्कृत होगा, मन की मलिन वासनाएँ दूर होंगी, चित्त के भाँति-भाँति के सन्देहों का भंजन होगा, भक्ति के चरणों में प्रीति होगी और भगवान् के समीप पहुँचने की अधिकारी भेद से जिज्ञासा उत्पन्न होगी।”<sup>5</sup> यही श्रीचैतन्य चरित्र की सामाजिक उपादेयता है। वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में बढ़ते बाजारवाद के कारण और घटते मूल्यों के कारण यह उपादेयता और अधिक मात्रा में बढ़ गई है। इस कारण उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा का तथा उपदेशों का सामाजिक समरसता की दृष्टि से विवेचना होना आज आवश्यक हो गया था। इस कारण बहुत शोध परियोजना के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत सामाजिक समरसता के जिन मानदण्डों का उल्लेख हमने किया है, उन्हीं के आधार पर हम आगे श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा उपदेशों में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता पर प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

### शिक्षा में स्थित मानवता का सूत्र

बंगाल के महाप्रभु तथा सर्वश्रेष्ठ सन्त कवि श्रीचैतन्यदेव ने अपने जीवन की सम्पूर्ण कालावधि में मानवता की प्रतिस्थापना हेतु असंख्य प्रयास किए हैं। इस कारण अपने जीवनकाल में ही उन्होंने लोगों की असीम लोकप्रियता और स्नेह प्राप्त किया। ऐसी मान्यता है कि उनकी अद्भुत भगवद्भक्ति देखकर जगन्नाथ पुरी के राजा तक उनके श्रीचरणों में नत हो जाते थे। बंगाल शासक के एक मन्त्री रूपगोस्वामी तो मन्त्री पद का त्याग कर चैतन्य महाप्रभु के शरणागत हो गए थे। उन्होंने कुष्ठ रोगियों एवं दलितों आदि को अपने गले लगाकर उनकी अनन्य सेवा की। वे सदैव हिन्दू-इस्लाम एकता का सन्देश देते रहे। साथ ही उन्होंने लोगों की पारस्परिक सद्भावना जागृत करने की प्रेरणा दी। वस्तुतः उन्होंने जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर समाज को मानवता के सूत्र में पिरोया और भक्ति का अमृत पिलाया। विश्वमानव को एक सूत्र में पिरोते हुए यह समझाया कि ईश्वर एक है। उन्होंने लोगों को निम्नलिखित मुक्ति सूत्र दिया :

“कृष्ण केशव, कृष्ण केशव, कृष्ण केशव पाहियाम ।  
राम राघव, राम राघव, राम राघव, रक्षायाम ॥”

उपर्युक्त मन्त्र का नामस्मरण करके दीन, दलित, दुःखी, असहाय, पीड़ित, अमीर-से-अमीर और गरीब-से-गरीब, ऊँच-से-ऊँच और नीच-से-नीच व्यक्ति भी अपना उद्धार सहजता से कर सकता है। आज वर्तमान में समाज में सामाजिक समरसता को प्रस्थापित करने हेतु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के जो उपदेश दिए हैं उनमें भी उनके मानवतावादी विचार ही परिलक्षित होते हैं, इस कारण उन पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। आगे संक्षेप में उन्हें विश्लेषित करने का प्रयास किया जा रहा है।

### जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा के उपदेश

श्रीचैतन्य महाप्रभु का सारा व्यक्तित्व जाति-पाँति विरहित और सार्वभौम ऐसा रहा है। यही कारण है कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में प्रेममयी शिक्षा के जो उपदेश दिए, उनकी व्याप्ति जाति-पाँति विरहित और सार्वभौम प्रेममयी ऐसी ही रही है। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के मतानुसार, “उनके समान प्रेम के भावों को प्रकट करने वाले प्रेमियों का अवतार कभी-कभी ही इस धरा-धाम पर होता है। वे अपने प्रेममय आचरण से समस्त प्राणीमात्र को सुख पहुँचाते हैं। इसीलिए असली प्रेमी देश, काल और जाति के बन्धनों से सदा पृथक् ही रहते हैं। उनका जीवन संकीर्ण न होकर सम्पूर्ण संसार को सुख-शान्ति का पाठ पढ़ाने वाला सार्वभौम होता है। वे किसी एक विशेष जाति के भीतर ही क्यों न पैदा हों, किन्तु उनके ऊपर सभी जातिवालों का समान अधिकार होता है। सभी देशवासी उन्हें अपना ही मानकर पूजते हैं।”<sup>6</sup> श्रीचैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व को भी जाति-पाँति विरहित सार्वभौम व्यक्तित्व माना जाता है। ‘श्रीचैतन्य चरितावली’ के चैतन्य किसी एक ही देश, एक ही सम्प्रदाय और एक ही भाव के लोगों के न होकर वे सार्वदेशिक हैं। उनके ऊपर सभी का समान अधिकार है। उनकी सार्वभौम और प्रेममयी शिक्षा के सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद लिखते हैं—“श्रीकृष्ण चैतन्य का चरित और शिक्षा श्रीमद्भागवत एवं भागवत धर्म का मूर्तिमान रूप है। श्रीकृष्ण चैतन्यदेव ने समस्त शास्त्रों में, समस्त कर्ता में, समस्त क्रिया में, सभी करण में, सारे स्थान-काल-पात्र में, सारे साधन और फल में भक्ति का अधिष्ठान और प्रेममयी शिक्षा का प्रचार किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति सार्वत्रिक, सार्वकालिक, सार्वजनिक और सार्वभौम धर्म है यह शिक्षा श्रीचैतन्यदेव के चरित्र में देदीप्यमान है।”<sup>7</sup> श्रीचैतन्य महाप्रभु ने आजीवन जाति-पाँति और अस्पृश्यता का विरोध किया है। उनके जीवनी लेखक श्री अमृतलाल नागर जी ने इस सन्दर्भ में अपना मत अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—“श्रीचैतन्य प्रत्येक ब्रजवासी को ‘हरि-हरि’ कहकर अपने कलेजे से लगा लेते थे। कोई टोकता कि मैं हीन जन्मा हूँ, आपके स्पर्श योग्य नहीं तो हँसकर कहते—‘श्रीकृष्ण और उनके भक्त हर जाति, हर रूप में मिलते हैं। उन्हें स्पर्श करने से भला कौन धर्मशास्त्र दोष निकाल सकता है?’ वे कहते हैं कि भगवान नीचों के प्रति अधिक कृपालु होते हैं। कुलीनों और पण्डितों को अपनी कुल विद्या आदि का अभिमान होता है। श्रीकृष्ण तो उसे मिलते हैं जो तिनके से भी अधिक नम्र होकर, वृक्षों से अधिक सहनशील होकर, अमानी होकर, साथ ही दूसरों को मान देकर उनका भजन करता है।”<sup>8</sup> भगवद्भक्ति में ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति का विरोध कर श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भाव को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका यह मानना था कि :

नीच - जाति नहे कृष्णभजने अयोग्य ।  
 सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥  
 येइ भजे, सेइ बड़, अभक्त-हीन, छार ।  
 कृष्णभजने नाहि जाति-कुलादि विचार॥  
 दीनेरे अधिक दया करे भगवान् ।  
 कुलीन पण्डित, धनीर बड़ अभिमान॥

अर्थात्—नीच जाति श्रीकृष्ण-भजन के लिए अयोग्य नहीं है। और अच्छे कुल में जन्म या ब्राह्मण होना ही भजन की योग्यता नहीं है। जो भजता है वही बड़ा है। अभक्त हीन नगण्य है। श्रीकृष्ण-भजन में जाति-कुलादि का विचार नहीं है। भगवान् दीन पर अधिक दया करते हैं। कुलीन पंडित और धनिकों को तो बड़ा अभिमान होता है। यही कारण था कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने तत्कालीन जन समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था और स्पृश्य अस्पृश्यता का विरोध कर वर्ण-व्यवस्था की पुनर्व्याख्या की थी उस पर आज स्वतन्त्र रूप से विचार होने की आवश्यकता है। इस कारण आगे स्वतन्त्र मुद्दे के अन्तर्गत उस पर प्रकाश डाला जा रहा है।

#### वर्णाश्रम-धर्म की पुनर्व्याख्या

श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरित्र का अध्ययन करने के बाद इस बात का पता चलता है कि उन्होंने प्रचलित वर्णाश्रम धर्म को नकारा नहीं, परन्तु उसे यथावत रूप में न स्वीकार कर उसकी पुनर्व्याख्या की है। वर्णाश्रम धर्म को पुनः नए सिरे से परिभाषित करने का प्रयास किया। श्री सुन्दरानन्द विद्याविनोद जी के मतानुसार उनका यह मानना था कि—

कृष्ण ना भजिते 'द्विज' नहे कदाचित् ।  
 पुराण-प्रमाण एइ शिक्षा आछे नीत॥  
 चण्डलोऽपि मुने : श्रेष्ठो विष्णुभक्ति परायणः ।  
 विष्णु भक्ति विहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

(चै.म.आ.कै.ली. गयायात्रा 51-52)

अर्थात्—कृष्ण को न भजने पर कभी द्विज नहीं हो सकता। इसमें पुराण का प्रमाण है। यह शिक्षा नित्य है। विष्णुभक्ति-परायण पुरुष यदि चाण्डाल कुल में भी उत्पन्न हुआ हो तो वह ब्राह्मण-मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है, परन्तु विष्णु-भक्ति से रहित ब्राह्मण चाण्डाल की अपेक्षा भी निकृष्ट है।<sup>9</sup> ऐसी मान्यता है कि श्री निमाई पण्डित ने गया कि ओर जाते समय लोकानुकरण में अपनी देह में ज्वर प्रकाशित करके एक वैष्णव ब्राह्मण का चरणोदक पान कर अपनी ज्वर मुक्ति का अभिनय किया था। श्री निमाई की इस लीला का यथार्थ उद्देश्य सामान्य लोग नहीं समझ सके। ब्राह्मण के

चरणोदक के द्वारा जीव की त्रिताप ज्वाला नष्ट होती है तथा वैष्णव के चरणोदक के द्वारा उसे कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है; यह शिक्षा प्रदान करना ही श्रीमन् महाप्रभु का उद्देश्य था। इस बहाने उन्होंने वर्णाश्रम धर्म की पुनर्व्याख्या की है। श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का यह मानना है—“चैतन्य महाप्रभु वर्णाश्रम की ओर सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने जाति संस्था सहित वर्णाश्रम धर्म का समर्थन करते हुए कहा है कि यह केवल एक सामाजिक संस्था है जिसे ऋषियों ने मानव व समाज के कल्याण हेतु प्रस्तुत किया है। आर्यों में इनकी उपस्थिति से कोई हानि नहीं होगी। जब तक कि ये आध्यात्मिक विकास का विरोध नहीं करते।<sup>10</sup> इसी पुस्तक में प्रद्युम्न मिश्र के मत को प्रतिपादित करते हुए श्री भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है—“प्रद्युम्न मिश्र के मतानुसार ब्राह्मण को आध्यात्मिकरण हेतु रामानन्द राय के पास भेजकर चैतन्य महाप्रभु ने यह सिद्ध किया है कि जो कृष्णतत्त्व का ज्ञाता है वही गुरु बनने योग्य है, चाहे वह शूद्र, ब्राह्मण अथवा संन्यासी हो।”<sup>11</sup> इससे यह स्पष्ट होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मानवता की प्रतिस्थापना हेतु जाति-पाँति विरहित सार्वभौम, प्रेममयी शिक्षा का उपदेश देकर वर्णाश्रम से ग्रस्त तत्कालीन समाज में सामाजिक समरसता का उच्च आदर्श प्रस्थापित करने का प्रयास किया था। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा में तथा उपदेशों में मानवता की प्रतिस्थापना और जाति-पाँति के विरोध के साथ-साथ प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता का अनुपालन, साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे का आग्रह, त्याग की महिमा का प्रतिपादन, अवतारवाद का विरोध, सार्वजनीन धर्म का स्वीकार आदि का भी आविर्भाव विद्यमान दिखाई देता है। जिन पर भी यथावकाश प्रकाश डालना मुझे आवश्यकता लग रहा है।

प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता के अनुपालन की शिक्षा

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने समग्र जीवनकाल में प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता के अनुपालन की शिक्षा पर बल प्रदान किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेममार्ग की विशेषता है कि उसमें कोई शत्रु ही नहीं। घृणा, द्वेष, कपट, हिंसा, अथवा अकारण कष्ट पहुँचाने के विचार उनके प्रेममार्ग में नहीं उठते, निम्न भाव ही वहाँ प्रधान रूप में कार्यरत है—

*सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखं भाग्भवेत्॥*

इसी का नाम निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा अथवा सत्याग्रह है। अमृतलाल नागर जी का मानना है कि चैतन्य महाप्रभु धनिकों को प्रेरित करके निर्धनों को अन्न, वस्त्र और धन दिलवाते थे। समाज में प्रेमभाव उत्पन्न करके अपने कीर्तनों के द्वारा

वे जनमानस को एक ऐसे आनन्द के धरातल पर उठा ले जाते थे कि हर एक अपने-अपने जीवन में नई दिव्य अनुभूति का अनुभव करने लगता था।<sup>12</sup>

श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा चलाए गए अहिंसा आन्दोलन पर प्रकाश डालते हुए प्रभुदत्त ब्रह्मचारी लिखते हैं—“महाप्रभु गौरांगदेव ने संकीर्तन रोकने के विरोध में इसी मार्ग का अनुसरण करना चाहा। काजी की नीच प्रवृत्तियों का दमन करने के निमित्त उन्होंने इसी मार्ग का अवलम्बन किया। सब लोगों से उन्होंने कह दिया ‘आप लोग घबराएँ नहीं, मैं स्वयं काजी के सामने संकीर्तन करता हुआ निकलूँगा, देखें वह मुझे संकीर्तन से किस प्रकार रोकता है? दूसरे दिन महाप्रभु ने नित्यानन्द को आज्ञा दी कि सम्पूर्ण नगर में इस संवाद को सुनाओ कि हम आज सन्ध्याकाल के समय काजी की आज्ञा के विरुद्ध नगर में संकीर्तन करते हुए निकलेंगे। सन्ध्या समय सभी लोग हमारे घर पर एकत्रित हों और प्रकाश के लिए एक-एक मशाल भी साथ लेते आवें।’<sup>13</sup> इस अहिंसात्मक आन्दोलन का आगे वर्णन करते हुए प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी ने लिखा—“जब प्रभु को इस बात का पता चला कि कुछ उपद्रवी लोग जनता को भड़काकर उसमें उत्तेजना पैदा कर रहे हैं और काजी की क्षति पहुँचाने का उद्योग कर रहे थे, तो उन्होंने उसी समय संकीर्तन बन्द करने की आज्ञा दे दी। प्रभु की आज्ञा पाते ही सभी भक्तों ने अपने-अपने वाद्य नीचे उतारकर रख दिए। नृत्य करने वाले रुक गए। पद गाने वालों ने पद बन्द कर दिए। क्षण-भर में ही वहाँ सन्नाटा-सा छा गया। प्रभु ने दिशाओं को गूँजते हुए मेघ-गम्भीर स्वर में कहा—“खबरदार! किसी ने काजी को तनिक भी क्षति पहुँचाने का उद्योग किया तो उससे अधिक अप्रिय मेरा और कोई नहीं होगा। सभी एकदम शान्त हो गए। प्रभु का इतना कहना था कि सभी उपद्रवी अपने-अपने हाथों से शाखा तथा ईंट-पत्थर फेंककर चुपचाप प्रभु के समीप आ बैठे। सबको शान्तभाव से बैठे देखने के बाद प्रभु ने काजी को बुलावा भेजा।”<sup>14</sup> इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने काजी की उस अराजक राजसत्ता को अहिंसात्मक पद्धति से विरोध करने के लिए शान्तिपूर्ण ढंग से, सविनय जुलूस निकालकर अपने अहिंसा आन्दोलन द्वारा उच्चादर्श प्रस्थापित किया। प्रभु ने यह कार्य उस समय में किया जब देश पराधीन था, विदेशी सत्ता सम्पूर्ण देशवासियों को गुलाम बनाकर उन पर अनगिनत अन्याय अत्याचार कर रही थी। न किसी को विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता थी और न किसी को इस्लाम को छोड़ अन्य किसी धर्म की उपासना करने का अधिकार था। तलवार के बूलबूते पर राजा-महाराजा राज्य के साथ-साथ धर्म का चारों ओर प्रसार करने में अग्रसर थे, ऐसी परिस्थिति में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सर्वप्रथम अहिंसात्मक सत्याग्रह के मार्ग का अनुसरण कर विदेशी सत्ता का विरोध किया। अहिंसात्मक पद्धति से राज्य सत्ता का विरोध करने वाले श्रीचैतन्य महाप्रभु देश के पहले व्यक्ति थे। इस सन्दर्भ में श्री अमृतलाल नागर जी अपने जीवनीपरक उपन्यास में लिखते हैं—“चैतन्य ने नाच-गाकर

कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकलवा दिए। अहिंसात्मक विद्रोह करने का यह सामूहिक उपाय तब तक इतिहास में शायद पहली बार ही प्रयोग में लाया गया था।”<sup>15</sup> श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी ने भी इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके गुरु केशव भारती के भाई ब्रह्मानन्द भारती के एक प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है—“केशव भारती उनके गुरु थे, पर जब उनके धर्मभाई ब्रह्मानन्द भारती उनके सम्मुख शेर के चर्म पहन कर उपस्थित हुए तथा नतमस्तक हुए, पर उन्होंने उनका नमस्कार तब तक स्वीकार नहीं किया जब तक उन्होंने चर्म उतारकर कौपिन और बहिर्वास नहीं धारण किया। उन्होंने कहा कि जो व्यक्ति उनके सामने हैं वह भारती नहीं हैं, यह कैसे सम्भव हो सकता है कि गुरु पशु का चर्म धारण करें। संन्यासियों को अपने कारण पशुवध नहीं करना चाहिए।”<sup>16</sup> प्रेम, अहिंसा और सत्याग्रह के साथ-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा में नैतिकता के अनुपालन को भी प्रमुख स्थान दिया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर जी के मतानुसार, “महाप्रभु ने अपने चरित्र तथा शिक्षा में शुद्ध नैतिकता को आध्यात्मिक विकास का साथी माना है। नैतिकता तो सामान्य रूप से एक भक्त में सुशोभित रहती है। यदि किसी में नैतिकता नहीं है तो उनके कृष्ण भक्त होने में सन्देह है।”<sup>17</sup> ‘भारत की सन्त परम्परा और सामाजिक समरसता’ इस पुस्तक में डॉ. कृष्ण गोपाल इस सन्दर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं—“पन्द्रहवीं शताब्दी में जब सन्त कबीर, भक्त रैदास ने निर्गुण भक्ति की तथा गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस ने सगुण भक्ति की धूम मचाई, तभी श्रीगुरु नानकदेव ने पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्र में भक्ति आन्दोलन तथा सामाजिक समरसता की अलख जगाई हुई थी, उसी समय पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व में एक अत्यन्त तेजस्वी भगवद्भक्त श्रीचैतन्य महाप्रभु हरिस्मरण का आन्दोलन चला रहे थे। इन्होंने भारतीय समाज को नैतिकता, साधुता तथा भक्ति के नए आयाम दिए।”<sup>18</sup> श्री चैतन्य महाप्रभु नैतिक आदर्श के सन्दर्भ में कितने आग्रही थे इस सन्दर्भ में एक प्रसंग का वर्णन करते हुए सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर ने लिखा है—“नैतिकता के सन्दर्भ में उनका विचार था कि मनुष्य सही मार्ग तथा ईमानदारी द्वारा पैसा कमा सकता है, पर अनैतिक ढंग से लाभ नहीं उठाना चाहिए। जब रामानन्द राय का भाई गोपीनाथ पटनायक अनैतिक लाभ उठाने के कारण दण्डित हो रहा था, तब महाप्रभु ने उनके सभी साथियों को सांसारिक व्यवहार में सच्चाई बरतने के लिए सचेत किया।”<sup>19</sup>

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपनी शिक्षा तथा उपदेशों में प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह और नैतिकता को असाधारण महत्त्व दिया था। वह भी उस युग में जिसमें अन्याय, अत्याचार, हिंसा और युद्ध का चारों ओर बोलबाला था। प्रेम, अहिंसा, सत्याग्रह का अनुपालन और नैतिकता का आग्रही प्रतिपादन करने के साथ-साथ चैतन्य महाप्रभु ने साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे की स्थापना की। वह भी उनके शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता का ही द्योतक

है। इस कारण आगे उस सन्दर्भ में श्रीचैतन्य महाप्रभु के विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

### साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे का समर्थन

चैतन्य महाप्रभु ने आजीवन साम्प्रदायिकता का विरोध कर सार्वभौम भाईचारे की प्रतिस्थापना हेतु प्रयास किया, ऐसा दिखाई देता है। श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर जी के मतानुसार “आध्यात्मिक बुद्धि व आनन्द के सन्दर्भ में वे मानव समानता पर विश्वास करते थे। वे मनुष्य मात्र में सार्वभौम भाईचारे तथा वैष्णवों में विशेष भातृत्व की शिक्षा देते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक वैष्णव आध्यात्मिक सुधार का प्रेरक बन सकता है। उनका कहना है कि मानव-समाज को साम्प्रदायिकता की बेड़ी में कभी नहीं जकड़ना चाहिए।”<sup>20</sup>

इस प्रकार साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सार्वभौम भाईचारे की स्थापना कर सामाजिक समरसता हेतु महत्वपूर्ण योगदान दिया, ऐसा दिखाई देता है।

### असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों के मदद अपेक्षा

साम्प्रदायिकता के विरोध के साथ-साथ श्री चैतन्य महाप्रभु ने समाज में स्थित उच्च वर्ग के लोगों द्वारा असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों की मदद की अपेक्षा की है। इस सन्दर्भ में उनके भक्त श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने अपने छोटे से ग्रन्थ ‘श्रीचैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा’ में लिखा है—“श्री चैतन्य महाप्रभु ने गृहस्थों को असहाय, निर्धन अभावग्रस्त लोगों की सहायता करने की सीख अपने प्रारम्भिक जीवन में ही दी है। उन्होंने यह दिखाया है कि जो समर्थ है उसका यह कर्तव्य है कि वह जनशिक्षा में सहायता दे, विशेष रूप से ब्राह्मण से यह अपेक्षा की जाती है। क्योंकि मानव ज्ञान का उच्चस्तरीय विषयों का अध्ययन उनका कर्तव्य है।”<sup>21</sup>

### अवतारवाद का विरोध

असहाय, निर्धन और अभावग्रस्त लोगों को मदद की अपेक्षा के साथ-साथ श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अवतारवाद का भी विरोध किया है। अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में उन्होंने जीते-जी कभी भी अवतारवाद का समर्थन नहीं किया। इस सन्दर्भ में भी अपना मत व्यक्त करते हुए श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर लिखते हैं—“हमारे पाठक महाप्रभु के प्रति जैसा भी भाव चाहे रखने को स्वतन्त्र हैं। वैष्णवों ने उन्हें साक्षात् कृष्णरूप में स्वीकार किया है। कुछ लोग उन्हें भक्त अवतार मानते हैं। कुछ वैष्णव भक्तों के अनुरोध पर हमने ‘स्मरण मंगल’ के पद्य एक प्रार्थना के रूप में अनुबन्धित



किया है। जिसका प्रतिदिन पूजा के समय वाचन किया जा सकता है। जिन्हें यह विचार स्वीकार नहीं वे निमाई पण्डित को एक महान आध्यात्मिक उपदेशक, शिक्षक के रूप में अपना सकते हैं। हम अपने पाठकों से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं करते हैं। पाठकों, यदि यह पुस्तिका पढ़ने के बाद आप श्रीकृष्ण को चैतन्य से अभिन्न समझें तो हम आपसे अनुरोध करेंगे कि आप उन्हें साक्षात् भगवान का अवतार न मानें, क्योंकि भगवान मानव के कलुषित शरीर में क्यों आएँगे। अपनी स्वयं की सर्वोच्च शक्ति से वह अपनी समस्त गौरवमयी महिमा तथा गुणों सहित इस संसार में पदार्पण करने में समर्थ है। इसमें उन्हें माया (जिसने जड़ संसार की रचना की है) की निम्न शक्ति की सहायता की आवश्यकता क्या है। यदि हम इसके विपरीत विश्वास करेंगे तो हम भगवान की आध्यात्मिक शक्ति को नीचा देखने का पाप करेंगे।”<sup>22</sup> श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का मानना है कि “जब बनारस के संन्यासियों ने उन्हें सर्वशक्तिमान भगवान कहकर सम्बोधित किया तो उन्होंने कहा कि एक जीव को भगवान कहकर सम्बोधित करना महापाप है। उन्होंने अनेक बार किसी भी आकार, आकृति पूजा का खण्डन किया है जो ईश्वर की सच्ची प्रतिच्छवि न हो। ईश्वर की प्रतीकात्मक चिह्न की पूजा में उपयोग भगवान की सत्यमूर्ति मानकर की जाती है। भगवान एक है, उनके समान दूसरा कोई नहीं है। उनसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। यही महाप्रभु की शिक्षा का मर्म है।”<sup>23</sup> संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अवतारवाद का विरोध कर प्रत्येक सामान्य मनुष्य मात्र में ईश्वर के अस्तित्व को मानने से इनकार किया है। उनका यह मानना था कि एक जीव को भगवान कहकर सम्बोधित करना महापाप है। उन्होंने अनेक बार अवतारवाद तथा किसी भी आकार-आकृति पूजा का खण्डन किया है, जो ईश्वर की सच्ची प्रतिच्छवि न हो। उनकी यह भी धारणा थी कि भगवान एक है, उनके समान दूसरा कोई नहीं है। उनसे कोई प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। यही अवतारवाद के सम्बन्ध में महाप्रभु की शिक्षा का मर्म है।

### सार्वजनीन धर्म का स्वीकार

श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय धर्म की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सामान्य जनता और देशवासियों के लिए धर्म अब सार्वजनिक नहीं गोपनीय-सा हो गया था। ऐसी विपरीत परिस्थिति में श्रीचैतन्यदेव ने सार्वजनिक धर्म का समर्थन किया। इस सन्दर्भ में श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर का मानना है कि “प्रभु द्वारा प्रचारित धर्म सार्वजनिक एवं व्यापक है। अपवर्जक नहीं। अत्यधिक अज्ञानी तथा परम विद्वान दोनों को इसे अपनाने का अधिकार है। विद्वान इसे वर्गीकरण के उल्लेख के अनुसार सम्बन्धितत्व की जानकारी सहित ग्रहण करेंगे। अज्ञानी मूढ़ को भी वही सुविधा प्राप्त है, वे केवल नाम-स्मरण तथा वैष्णवों के सत्संग से इसे प्राप्त कर सकते हैं।”<sup>24</sup>

श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रतिपादित सार्वजनीन धर्म की व्यापकता स्पष्ट करते हुए श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद लिखते हैं—“श्रीचैतन्य महाप्रभु-प्रचारित प्रेम-भक्ति-धर्म की सार्वजनिकता अभूतपूर्व एवं अश्रुतपूर्व साक्षी के रूप में हैं। प्रेम-भक्ति-धर्म की सार्वजनिकता के अतिरिक्त पंचतत्त्वात्मक रूप में श्रीगौरहरि द्वारा प्रचारित यह प्रेमधर्म कितना सार्वत्रिक रहा इसका परिचय निम्नांकित पंक्तियों में मिलता है :

एइ पंचतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य ।  
 कृष्ण-नाम प्रेम दिया विश्व कैला धन्य॥  
 मथुराते पाठाइला रूप-सनातन ।  
 दुइ सेनापति कैला भक्ति प्रचारण॥  
 नित्यानन्द गोसांजे पाठाइला गौड़देशे ।  
 तेहों भक्ति प्रचारिला अशेष-विशेषे॥  
 अपने दक्षिण देशे करिला गमन ।  
 ग्रामे-ग्रामे कैला कृष्णनाम प्रचारण॥  
 सेतुबन्ध पर्यन्त कैला भक्ति प्रचार ।  
 कृष्णप्रेम दिया कैला सबार निस्तार॥ चै.च.आ.7/163-67  
 पृथिवी पर्यन्त यत आछे देश-ग्राम ।  
 सर्वत्र संचार हाइवेक मोर नाम॥ चै.भा.अ.4/126<sup>25</sup>

#### स्त्री-शिक्षा को महत्त्वपूर्ण माना

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण के पूर्व की अवस्था में स्त्री-शिक्षा को महत्त्वपूर्ण मानकर उस दृष्टि से प्रयत्न किए थे। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद जी के मतानुसार, “श्रीचैतन्यदेव ने अपने आरम्भिक जीवन काल में स्त्री-शिक्षा को महत्त्व दिया था। श्रीअद्वैताचार्य की गृहिणी श्रीसीता देवी, श्रीनित्यानन्द की जननी श्रीपद्मावती, श्रीशचीमाता, श्रीश्रीवास की पत्नी श्रीमालिनी, श्रीराघव की बहिन श्रीदमयन्ती, श्रीसार्वभौम की गृहिणी, आचार्यरत्न श्रीचन्द्रशेखर की पत्नी, आचार्या श्रीजान्हवा-वसुधा माता, श्रीलक्ष्मीप्रिया और विष्णुप्रिया माता, श्रीशिवानन्दसेन की पत्नी, श्रीनन्दिनी-जंगली, श्रीशिखि माहातिकी, बहिन विदुषी श्रीमाधवी माता आदि अनेक वैष्णवी शक्तियों ने, दूसरी ओर श्रीपरमेश्वर मोदक की पत्नी, मुकुन्दा की माता, आदिवस्या उड़िया स्त्री, श्रीवास की दासी, दुःखी या सुखी; यहाँ तक कि रामचन्द्र खों की प्रेरिता वेश्या (जो बाद में ठाकुर हरिदास की कृपा प्राप्त की हुई परम वैष्णवी बनी) देवदासी आदि शक्तियों ने श्रीगौर तथा श्रीगौरजनक की कृपा की आदर्श शिक्षा की विशिष्टता और विचित्रता का प्रचार किया है। श्रीश्रीवास की सास के दृष्टान्त में श्रीगौरहरि की निरपेक्षता तथा श्रीकृष्ण सन्तुष्टि की सापेक्षता की आदर्श शिक्षा प्रचारित हुई है।”<sup>26</sup>

### त्याग की महिमा का प्रतिपादन

गौरांग महाप्रभु जीवों को त्याग का पाठ पढ़ाना चाहते थे। वे दिखाना चाहते थे कि प्रभु प्राप्ति के लिए प्यारी-से-प्यारी वस्तु का भी परित्याग करना आवश्यक होता है। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी श्रीचैतन्य महाप्रभु के त्यागमय उपदेशों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—“थोड़ी देर समाहित चित्त से महाप्रभु के त्याग की कल्पना तो कीजिए। संसार जिसके लिए पागल हो रहा है, ऐसी देशव्यापी प्रतिष्ठा हो, भक्तगण जिन्हें साक्षात् भगवान मानकर पूजते हो, जिनके भोजन के लिए भाँति-भाँति की नित्य नूतन वस्तुएँ बनती हों, जिसके घर में प्रेममयी वृद्धा माता हो, त्रैलोक्यसुन्दरी, सर्वगुण-सम्पन्न, पति को ही सर्वस्व मानने वाली नवयौवना पत्नी हो, इन सबका तृण के भाँति परित्याग करके द्वार-द्वार का भिखारी बनकर भटकना कितना भारी त्याग है, कैसा दुष्कर कर्म है। इससे पाठकों को पता चलेगा कि भगवत्-प्रेम में कितना अधिक सुख होगा, जिसकी उपलब्धियों के लिए इतने बड़े-बड़े सुखों का बात-की-बात में त्याग करके महाप्रभु गृहत्यागी वनवासी बन जाते हैं।”<sup>27</sup>

### शिक्षा की उपादेयता

श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद के मतानुसार “श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा एक ओर सरल भी है और एक ओर गम्भीर भी है। सरल इसलिए कि निरक्षर मनुष्य को समझने के लिए किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं और गम्भीर इसलिए कि तर्क विचार एवं शास्त्र-ज्ञान में पारंगत परम पण्डितों के मनन की उसमें प्रचुर सामग्री है। गृहस्थ और वैरागी, युवक और वृद्ध, स्त्री और पुरुष, बिना किसी जाति-वर्ण धर्म के भेद के सभी लोग, श्रीचैतन्यदेव के आचरण और शिक्षा से सर्वश्रेष्ठ मंगल का कल्याण कर सकते हैं। कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष और सरल होने पर श्रीचैतन्यदेव के द्वारा प्रचारित धर्म को नित्य सार्वजनीन चित्त समन्वयन, विधानकारी पर धर्म के रूप में प्राप्त कर सकता है। उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र में जिस गम्भीर तत्त्व का आविष्कार हुआ है, श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा में उसका परिपूर्ण सार भाग पाया जाता है। अठारह पुराण, बीस धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत श्रीमद्भगवद्गीता, षड्दर्शन और तन्त्रशास्त्र में जो सब कल्याणकारी उपदेश हैं वे सभी तात्त्विक रूप में श्रीचैतन्यदेव की शिक्षा में दिखाई देते हैं। विदेशी धर्मशिक्षा में और स्वदेशी प्रचलित धर्मसमूहों में जो कुछ सद् वस्तु है तथा स्वदेशी विदेशी किसी भी शास्त्र में जो नहीं पाया जाता है, वह भी श्रीचैतन्यदेव की परिपूर्ण शिक्षा में पाया जाता है।”<sup>28</sup>

### चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा का सार

श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा में अभिव्यक्त सामाजिक समरसता का सम्पूर्णतः विवेचन और विश्लेषण करने के बाद महाप्रभु और उनके शिष्य राय के बीच जो संवाद हुआ

है, उसके आधार पर संक्षेप में उनकी शिक्षा का सार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्रभु कहें, “कौन विद्या विद्या-मध्ये सार?”  
राय कहें, “कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहिं आर।”  
“कीर्तिगण-मध्ये जी वेर कोन् बड़ कीर्ति?”  
“कृष्णभक्त बलिया यौहार हय ख्याति॥”  
“दुःख-मध्ये कोन् दुःख हय गुरुतर?”  
“कृष्णभक्त-विरह बिना दुःख नाहिं देखि पर॥”  
“मुक्तमध्ये कोन् जीव मुक्त करि मानि।”  
“कृष्णप्रेम यौ ‘र, सेइ मुक्त-शिरोमणि॥”  
“श्रेयोमध्ये कोन् श्रेयः जी वेर हय सार?”  
“कृष्णभक्त-संग बिना श्रेयः नाहिं आर॥”  
“मुक्ति-भुक्ति वांछे येइ, काँहा दुहाँर गति?”  
“स्थावरदेह देवदेह यैछे अवस्थिति।” चै.च.म. 8 म.प्र.

अर्थात्—

प्रभु ने कहा, “विद्याओं में कौन विद्या सार है?”  
राय ने कहा, “कृष्णभक्ति के अतिरिक्त और विद्या ही नहीं है।”  
“कीर्तियों में जीव की बड़ी कीर्ति कौन है?”  
“जिनकी कृष्णभक्त के नाम से ख्याति होती है।”  
“दुःखों में गुरुतर दुःख कौन है?”  
“कृष्ण भक्त के विरह-दुःख के अतिरिक्त और दूसरा दुःख देखने में नहीं आता।”

“मुक्तों में किस जीव को मुक्त माने?”  
“जिन्हें कृष्णप्रेम है वही मुक्त-शिरोमणि है”  
“श्रेयों में कौन श्रेय जीवन के लिए सार है?”  
“कृष्ण भक्त के संग के अतिरिक्त और श्रेय नहीं है।”  
“जो मुक्ति भुक्ति चाहते हैं; उन दोनों की कहाँ गति होती है?”  
“स्थावर देह और देवदेह की भाँति स्थिति होती।”<sup>29</sup>

उपयुक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि श्रीचैतन्यदेव के शिक्षा सूत्र में ग्रथित होने पर यथार्थ विश्वप्रेम का विस्तार होगा, संघर्ष और द्वन्द्व की अमानिशा का अन्त हो जाएगा एवं यथार्थ जन-मंगल का आविर्भाव होगा।

### सामाजिक समरसता हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य

सामाजिक समरसता की दृष्टि से चैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर की आराधना के साथ-साथ बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। उनमें प्रमुख हैं—कर्मकाण्ड की जटिलताओं से मुक्त करके भक्ति को जन-जन के लिए सुलभ बनाया, शासक-वर्ग की धमकियों से लोग आस्था को मुक्त किया, नाच-गाकर कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकाले और आतंक से जड़ीभूत जन जीवन को चैतन्य ने फिर से चैतन्य प्रदान किया इस सन्दर्भ में चैतन्य महाप्रभु पर जीवनीपरक उपन्यास लिखने वाले अमृतलाल नागर लिखते हैं—“श्रीचैतन्य ने एक ओर तो ईश्वर को अपने यहाँ के कर्मकांड की जटिलताओं से मुक्त करके जन-जन के लिए सुलभ बना दिया था तो दूसरी ओर शासक-वर्ग की धमकियों से लोक-आस्था को मुक्त किया, नाचो गावो नाम कीर्तन में मस्त रहो, ईश्वर मूर्तियों में तो वाह-वाह वरना वह तुम्हारे मन में, वचन और कर्मों में, सदा तुम्हारे साथ, उसके नाम पर निर्भर जियो। चैतन्य ने नाच गाकर कृष्ण नाम लेने वाले दीवानों के जुलूस निकालवा दिए। अहिंसात्मक विद्रोह करने का यह सामूहिक उपाय तब तक इतिहास में शायद पहली बार प्रयोग में लाया गया था। आतंक से जड़ीभूत जन जीवन को श्रीचैतन्य ने तब चैतन्य प्रदान किया।”<sup>30</sup>

संक्षेप में कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु भक्तिकाल के प्रमुख कवियों में से एक हैं। इन्होंने वैष्णवों के गौड़ीय सम्प्रदाय की आधारशिला रखी। भजन गायकी की एक नई शैली को जन्म दिया तथा राजनीतिक अस्थिरता के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की सद्भावना पर बल दिया। जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना को दूर करने की शिक्षा दी तथा विनष्ट हुए वृन्दावन को फिर से बसाया और अपने जीवन का अन्तिम भाग वहीं व्यतीत किया। इस कारण आज भी वे हमें प्रासंगिक और पथदर्शक सन्तकवि के रूप में सदैव प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहे हैं। श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद चैतन्य महाप्रभु की प्रासंगिकता और पथदर्शक सन्तकवि के छवि पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—“शान्ति के नाम पर आज चारों ओर अशान्ति का साम्राज्य फैलता जा रहा है। मातृत्व के नाम आज विद्वेष की ज्वाला भड़क रही है। वह दिन भी कुछ ऐसा ही था। श्रीगौराब्द के अनुसार 467 वर्ष पूर्व की बात है; हत्या, लूटमार और तरह-तरह के अत्याचार की बीभत्स घटनाओं की स्याही से हमारे इतिहास के पन्ने लिखे जा रहे थे, चारों ओर कपट, षड्यन्त्र, व्यभिचार, नरहत्या, धार्मिक विद्वेष और अराजकता ने भीषण रौद्ररूप धारण लिया था। देश से शुद्ध भक्ति का बिल्कुल लोप-सा हो गया था, तब एक अद्वितीय पुरुष का जन्म हुआ। सूर्य के उदय होते ही जैसे अँधेरा हट जाता है, वैसे उस अतिसमर्थ पुरुष के आविर्भाव से अशान्ति का अन्धकार लुप्त होकर शान्ति का आलोक दिखाई देने लगा। धर्म और भक्तों पर जब-जब भी विपत्ति पड़ी है, तब-तब अतिमर्थ्य पुरुष अवतरित हुए हैं। नित्य सिद्ध नए-नए रूप में उस दिन

अतिमर्थ्य पुरुष का आविर्भाव हुआ नित्य पूजनीय कृष्णावतार श्रीमहाप्रभु श्रीचैतन्यदेव के रूप में। उन्होंने अपने प्रेममयी अमृतवाणी से भूले हुए मनुष्यों को सच्चा मार्ग दिखाया, संसार को सच्ची शान्ति का पता दिया। इस कारण वे आज भी हमें अधिकाधिक पथदर्शक और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। आज लोग उनकी वाणी को भूल गए हैं, उनके बताए हुए रास्ते को खो बैठे हैं, तभी यह अशान्ति तभी यह विद्वेष और तभी यह संघर्ष देश, समाज और व्यक्ति के जीवन में प्रवेश करता जा रहा है।”<sup>31</sup> उत्तर प्रदेश के मथुरा के वृन्दावन में चैतन्य महाप्रभु ब्रज वृन्दावन आगमन पंचशती समारोह में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने बतौर मुख्य अतिथि समारोह को सम्बोधित करते हुए कहा कि “आज समाज अगर चैतन्य महाप्रभु के सन्देश को आत्मसात कर ले तो सहनशीलता और सहिष्णुता का माहौल बन जाए। चैतन्य महाप्रभु ने अब से पाँच सौ साल पहले कृष्णावली स्थली वृन्दावन को संगीत के माध्यम से भक्ति की नई राह दिखाई। उसी धरा पर राष्ट्रपति ने आज भक्ति की शक्ति का अर्थ समझाया। सामाजिक सद्भाव कायम करने में चैतन्य महाप्रभु के योगदान की चर्चा करते हुए कहा कि जब देश में विषम हालात थे, सामाजिक कटुता थी तब महाप्रभु ने अपनी प्रेम वाणी से अनेकता में एकता स्थापित की। महाप्रभु का यही व्यक्तित्व दुनिया के लिए मिसाल है।”<sup>32</sup> राष्ट्रपति ने मौजूदा हालातों का जिक्र किए बिना कहा कि ये मौका खुद को चैतन्य करने का है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि समाज में सामाजिक समरसता की प्रतिस्थापना हेतु चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा उपदेश उस समय में जितने प्रासंगिक थे, उतने ही आज भी प्रासंगिक और कालजयी हैं।

### सन्दर्भ सूची

1. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 11-12
2. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 11-12
3. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली-प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 013
4. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 01
5. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 09
6. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 12
7. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 417
8. श्रीचैतन्य महाप्रभु - अमृतलाल नागर, पृ. 119
9. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 101
10. श्री चैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा - श्री भक्तिविनोद ठाकुर हिन्दी अनुवाद श्रीमती कृष्णाकुमारी श्रीवास्तव, पृ. 65
11. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 65

12. श्रीचैतन्य महाप्रभु — अमृतलाल नागर, पृ. 97
13. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली - प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 267
14. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 272
15. श्रीचैतन्य महाप्रभु - अमृतलाल नागर, पृ. 12
16. श्रीचैतन्य महाप्रभु का जीवन एवं शिक्षा - श्री सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर  
अनुवादिका श्रीकृष्णाकुमारी श्रीवास्तव, पृ. 66
17. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 64
18. भारत की सन्त परम्परा और सामाजिक समरसता - डॉ. कृष्ण गोपाल, पृ. 200
19. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 64
20. पूर्ववत्
21. श्रीचैतन्य महाप्रभु की जीवन एवं शिक्षा, पृ. 65
22. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 68, 69
23. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 64
24. पूर्ववत् - पूर्ववत्, पृ. 66
25. श्रीचैतन्यदेव — श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 424
26. पूर्ववत्, पृ. 422
27. श्रीश्रीचैतन्य चरितावली - प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृ. 14
28. श्रीचैतन्यदेव - श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 02-03
29. पूर्ववत्, पृ. 234-235
30. श्रीचैतन्य महाप्रभु — अमृतलाल नागर, पृ. 12
31. श्रीचैतन्यदेव — श्रीसुन्दरानन्द विद्याविनोद, पृ. 01-02
32. दै. जागरण समाचार-पत्र - प्रणव मुखर्जी 18 नवम्बर, 2015

## प्रकृति-सम्पृक्त भारतीय धर्म-परम्परा

(श्रीमती) विनय षडंगी राजाराम\*

भारतीय धर्म की सनातनता का वैशिष्ट्य प्रकृति के साथ सम्पृक्त होकर नित-नूतन आविष्कारों का मार्ग प्रशस्त करना रहा है। कोई भी मार्ग अन्तिम सत्य नहीं है और कोई भी खोज अन्तिम परिणति नहीं है। यही नित्य-नूतन परिवर्तनीयता धर्मचक्र प्रवर्तन के आधार बनते रहे हैं।

भारतीय धर्म धारा वेदों-उपनिषदों से होते हुए राम कृष्ण तथा बुद्ध तक पहुँचकर विविध मार्गों एवं आयामों को प्रशस्त करती हुई आज तक प्रवाहित होती आ रही है। इस निरन्तरता की पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कृति का प्रकृति के साथ एकात्म भाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कहा जाए तो भारतीय धर्म और दर्शन का आधार ही प्रकृति है। प्रकृति सर्जक है, प्रकृति नियामक है। प्रकृति से सम्पृक्ति ही भारतीय 'अवतारों' को ईश्वर बनाती है। अवतारवाद प्रकृति के विकास के साथ ईश्वर को जोड़ने की अद्भुत परिकल्पना है। परमात्मा की विशेष शक्ति 'माया' से सम्पृक्त होकर अवतार रूप में प्रकट होती है।

अवतारवाद के सम्बन्ध में ऋग्वेद में ही प्रमाण देखने को मिलते हैं—

“रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ।”

—भगवान् भक्तों के प्रार्थनानुसार प्रख्यात होने के लिए माया के संयोग से अनेक रूप धारण करते हैं। उनके शत-शत रूप हैं।”<sup>1</sup>

भगवद्गीता में स्वयं कृष्ण द्वारा कहा गया है—

“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मं संस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे-युगे॥”<sup>2</sup>

\* डॉ. (श्रीमती) विनय षडंगी राजाराम, सम्पर्क—एच-8, 'सप्तवर्णी', सूर्या आवासीय परिसर, राजा भोज कोलार मार्ग, भोपाल (म.प्र.)-462042, दूरभाष-02493678, 6536618, मो. 09826215072



— अर्थात् साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

शतपथ तथा तैत्तरीय ब्राह्मण ग्रन्थों में ‘कच्छप’ एवं ‘शूकर’ अवतारों का उल्लेख मिलता है। ‘वामन’ अवतार के रूप में तीन पग से सम्पूर्ण धरती को नाप लेने का प्रसंग ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी आया है।

पुराणों में 24 अवतारों का वर्णन मिलता है — (1) नारायण (विराट पुरुष) (2) ब्रह्मा (3) सनक—सनन्दन — सनत् कुमार-सनातन (4) नर-नारायण (5) कपिल (6) दत्तात्रेय (7) सुयश (8) हयग्रीव (9) ऋषभ (10) पृथु (11) मत्स्य (12) कूर्म (13) हंस (14) धन्वन्तरि (15) वामन (16) परशुराम (17) मोहिनी (18) नृसिंह (19) वेदव्यास (20) राम (21) बलराम (22) कृष्ण (23) बुद्ध (24) कल्कि।

विभिन्न ग्रन्थों में अवतारों की संख्या भिन्न-भिन्न कही गई है, किन्तु ‘दस अवतार’ बहुमान्य हैं, जिनमें कल्कि अवतार भविष्य के अवतार माने जाते हैं। परमात्मा अर्थात् विष्णु के दशावतार हैं — (1) मत्स्य (2) कूर्म (3) वराह (4) नृसिंह (5) वामन (6) परशुराम (7) राम (8) कृष्ण (9) बुद्ध (10) कल्कि।<sup>3</sup>

दशावतारों की परिकल्पना सर्वाधिक स्पष्ट एवं सर्वमान्य स्वरूप में लोकप्रिय हुई है 11वीं शती के संस्कृत कवि जयदेव के ‘गीत गोविन्द’ से। जयदेव ने कृष्ण को परम ईश्वर स्वीकार करते हुए ‘दशावतार’ में कृष्ण को सम्मिलित न कर ‘हलधर’ को अष्टम अवतार स्वीकार किया है। प्रायः भारतीय मन्दिरों आदि में अंकित चित्रांकन एवं शिल्पांकन जयदेव विरचित ‘गीत-गोविन्द’ में वर्णित दशावतार के आधार पर हुआ है।

‘अवतारवाद’ अपने-आप में प्रकृति के विकास के साथ ईश्वर को जोड़ने की अद्भुत सार्थक परिकल्पना है। सृष्टि विकास के क्रम में सम्पूर्ण धरती का जलमग्न होना स्वीकार्य है। इस जलमग्न धरती पर श्रेष्ठ जलचर के रूप में ‘मत्स्य’ का विकास, जिसे भारतीय धर्म परम्परा में मत्स्यावतार की संज्ञा दी गई। ‘मत्स्यावतार’ की व्यापक चर्चा ‘मत्स्य पुराण’ में हुई है जो पुराणों में सबसे प्राचीन माना जाता है। ‘प्रलय काल में सृष्टि-बीजों के साथ वेद एवं वैवस्वत मनु की रक्षा हेतु मत्स्यावतार के रूप में ईश्वर ने अवतार ग्रहण किया।

“प्रलय पयोधि जले धृतवानसि वेदम्, विहितवहित्र चरित्रमखेदम्।  
केशव धृत मीन शरीर जय जगदीश हरे॥”<sup>4</sup>

यह कथा अपने मूल रूप में विश्वव्यापी है ‘ओल्ड टेस्टामेण्ट’ में ऐसे ही जल-प्लावन की कथा कही गई है, जिसमें पवित्र आत्मा ‘नोआह’ या ‘नूह’ के सकुशल बचने का वर्णन किया गया है।

God went and spoke to Noah. “I am going to send a flood that will wash this wicked old world away” said god. “I want you to build a boat — an ark — on which to save all that will be needed for a new world to begin.”<sup>5</sup>

ऋषि मनुः तथा नूह के नाम सह अन्य सम्पूर्ण कथा में जो साम्य दिखाई देता है, वह इस कथा के एक स्रोत की ओर संकेत करता है।

दूसरे अवतार के रूप में ‘कूर्मावतार’ का तथा तृतीय अवतार के रूप में ‘वराह’ अवतार का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ‘कच्छप’ का रूप धारण कर प्रजापति ने शिशु को जन्म दिया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने शूकर का रूप धारण कर महासागर के अन्तस्थल से पृथ्वी को ऊपर उठाया।<sup>6</sup>

इन दोनों कथाओं में अवतारवाद के प्रारम्भिक स्वरूपों के दर्शन होते हैं, जो पश्चात्त्वर्ती समय में स्वीकृत सिद्धान्त के रूप में मान्य हुए।

कूर्म एवं वराह अवतार की कथाएँ धरती पर जीवन के विकास की कथाएँ हैं, जल-थल मय इस चराचर जीवन के शैनः-शनैः प्रकटीकरण की कथाएँ हैं। उभयचर कच्छप, अवतार रूप में प्रारम्भिक सृष्टि निर्माता तो हैं ही, समुद्र के गर्भ में छुपे अजस्र रत्नों को बाहर निकालने के प्रयासों के भी साक्षी हैं। ‘कूर्म अवतार’ के साथ समुद्र मन्थन की कथा जुड़ी है, जो महोदधि के विशाल जलराशि में छिपे विविध एवं बहुमूल्य साधनों-संसाधनों का मानव जाति के हित के लिए दोहन के प्रयासों का भी प्रतीक है।

दैवीय एवं आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप सुरासुरों द्वारा मिलकर समुद्र मन्थन किया जाना किसी कार्य को सम्पूर्ण करने हेतु सामाजिक एकता के ज्ञान का द्योतक है। किन्तु, प्राप्त रत्नादि पर देवों का आधिपत्य उनके बौद्धिक बल का तथा असुरों द्वारा बारम्बार देवताओं से हारना उनके बुद्धि-दौर्बल्य का प्रतीक है। भारत की प्राचीन कथाओं में असुरों का शारीरिक बल-सम्पन्न होना विशेष रूप से रेखांकित किया जाता रहा है। समुद्र मन्थन की इस कथा में भी कूर्म रूप विष्णु के ऊपर रखे मन्दर पर्वत को जब वासुकी सर्प की रज्जू बनाकर मन्थन प्रारम्भ किया तो वासुकी के मुख की ओर असुरों को रहना पड़ा। समुद्र मन्थन में अमृत की प्राप्ति हुई जिसे असुर भी पीना चाहते थे। यहाँ विष्णु ने पुनः चतुराई से मोहिनी रूप धारण कर नृत्यादि अभिनय द्वारा दानवों को छलपूर्वक अमृत से दूर रखा। अमृत ग्रहण की इस कथा में सिंहिका एवं विप्रचित्तिका के दुष्ट पुत्र ‘राहु’ ने चतुराई से सूर्य और चन्द्रमा की चमकती किरणों के मध्य स्थान बनाकर मोहिनी को भ्रम में रख अमृत चख लिया। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ने केतु की उपस्थिति से मोहिनी को अवगत कराया, तब विष्णु ने सुदर्शन चक्र से उसके दो टुकड़े कर दिए। वह मरा नहीं। अमृत की कुछ बूँदें वह ग्रहण कर चुका था, अतः उसका सिर राहू बन गया और धड़ केतु। सूर्य एवं चन्द्रमा द्वारा उनकी

पहचान बता दिए जाने का बदला ये राहु-केतु तब से आज तक, समय-समय पर उन्हें अपनी परछाई से ग्रस करके लेते हैं, जिसे हम सूर्य ग्रहण अथवा चन्द्र ग्रहण के रूप में जानते हैं। राहु और केतु का परछाई बनकर सूर्य एवं चन्द्रमा को निगलना आज वैज्ञानिक दृष्टि से कितना सटीक है, हम सब जानते हैं।

समुद्र मन्थन की कथा और भी कुछेक उपकथाओं से समृद्ध है। इस मन्थन से अमृत और गरल सह चौदह रत्न निकले थे। श्री, कौस्तुभ, कल्पतरु, सुरा, धन्वन्तरी, चन्द्रमा, कामधेनु, ऐरावत, रम्भा, उच्चैःश्रवा, शार्ङ्ग धनुष एवं पांचजन्य शंख। गरल अर्थात् महाविष। इस महाविष को भगवान् आशुतोष ने अपने कण्ठ में धारण किया और नीलकण्ठ कहलाए। समुद्र-कन्या लक्ष्मी को विष्णु ने पत्नी रूप में ग्रहण किया तथा पांचजन्य, कौस्तुभ मणि भी स्वयं के उपयोग हेतु रखा। आदि वैद्य धन्वन्तरी को प्राणी-मात्र के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु धरती पर तथा शीतलता देने के लिए चन्द्रमा को आकाश भेजा। कल्पवृक्ष, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा अश्व तथा अप्सरा रम्भा राजा इन्द्र को दे दिया गया। कामधेनु गाय पृथ्वी को नियन्त्रित करने वाले आदि राजा पृथु को दी। कामधेनु अर्थात् गाय, मानव जाति की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने वाली 'आदि-माता'। समुद्र मन्थन का सम्पूर्ण प्रयास अमृत तत्त्व की प्राप्ति के लिए था जिसे हर कोई पा लेना चाहता था। अमृत —जो इस चराचर में व्याप्त पंचतत्त्व का सार है, वनस्पतियों का आधार है। उन्हीं से ही समस्त संसार है। अमृत की एक बूँद प्राप्त करने के लिए ही यह सारा जीवन है यह जानना आवश्यक है।

कथानुसार अमृत कलश को सर्वप्रथम कुश के आसन पर रखा गया था। जिसकी रक्षा का दायित्व नाग-वंश का था। अमृत कलश को उचित स्थान तक ले जाने का कर्तव्य विष्णु के वाहन गरुड़ का था। सर्पों से छुड़ाकर अमृत कलश को ले जाने वाले गरुड़ और सर्प में जातीय वैमनस्य यहीं से प्रारम्भ हुआ। कलश के न रहने पर सर्पों ने कुशधास को चाटकर अमृत के अंशमात्र को ही प्राप्त कर लेना चाहा तो उनकी जिह्वा कुशधास की तीक्ष्णता से कट गई। आज तक भी समस्त सर्प कुल द्विजिहवीय हैं।

गरुड़ जब कलश को देव भूमि की ओर ले जा रहे थे तब अमृत की कुछ बूँदें धरती पर छलक गईं। जहाँ-जहाँ ये बूँदें गिरीं, वहाँ-वहाँ जल-तीर्थ विकसित हुए और जिन मुहूर्त एवं घटी में अमृत की बूँदें छलकीं उन मुहूर्तों में, उन स्थानों पर अमृत-योग बरसता है। अमृत-योग के उन क्षणों को आत्मसात करने का महोत्सव है 'कुम्भ'। नासिक, उज्जैन, इलाहाबाद एवं हरिद्वार में गिरी उन अमृत बूँदों को हम बारम्बार उन्हीं मुहूर्तों में पुनः-पुनः स्मरण करते हैं, अनुभव करते हैं और उनका लाभ उठाते हैं। अर्थात् तीन वर्षों के अन्तराल में इन चार स्थानों में 'कुम्भ महोत्सव' का आयोजन होता है। कुम्भ मेले का महत्त्व अमृत की बूँदों से जुड़ा है, उसके अमृत मुहूर्त की

गणना से जुड़ा है। बिना किसी पूर्व व्यवस्था अथवा पूर्व सूचना के इतने विशाल मेले की कल्पना करना आज के इस दूर संचार तकनीकी युग में भी दुष्कर है तो फिर उन पूर्व-कालों में इसकी व्यापकता कितनी आश्चर्यचकित करती होगी।

किसी धार्मिक रीति के सामाजिक सरोकार और मानवीय औदात्य-बन्धन का इतना सशक्त उदाहरण दुर्लभ है।

सृष्टि विकास के क्रम में प्रारम्भिक चतुष्पदीय पशु बलशाली 'वराह' है जो भारतीय धर्म परम्परा में तृतीय अवतार के रूप में स्वीकृत हैं। हिरण्याक्ष नामक राक्षस द्वारा पृथ्वी को समुद्र की गहराई अर्थात् पाताल में ले जाकर छुपा दिए जाने पर विष्णु ने तीक्ष्ण अर्ध चन्द्राकार दाँतों को धारण करने वाले बलशाली वराह का रूप धारण किया और पृथ्वी को अपने दाँतों में उठाकर ऊपर ले आए। 'वराह पुराण' में इस कथा का विस्तृत वर्णन मिलता है। जयदेव रचित गीत गोविन्द में भी इस अवतार का बहुत सुन्दर वर्णन हुआ है। कवि लिखते हैं जैसे चन्द्रमा कलंक के साथ शोभा पाता है वैसे ही दाँतों के मध्य धरती को धारण करने वाले वराह के रूप में केशव ने अवतार ग्रहण किया—

“वसति दशन शिखरे धरणी तव लग्ना, शशिनि कलंकं कलेव निमग्ना।  
केशव धृत शूकर रूप, जय जगदीश हरे॥”<sup>7</sup>

श्रीमद्भागवत में वराह का वर्णन 'यज्ञ वराह' के रूप में किया गया है।

'वराह' अवतार शारीरिक सौष्ठव और बल का प्रतीक है। इस अवतार की आराधना भारतवर्ष में लम्बे समय तक होती रही। गुप्त काल में भी इस अवतार की आराधना के व्यापक सन्दर्भ-संकेत मिलते हैं।

विष्णु के अगले अवतार के रूप में 'नृसिंह' अवतार की कल्पना की गई है। नर एवं सिंह के सम्मिलित स्वरूप में नृसिंह का अवतार हिरण्य कश्यप की अजेय आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने तथा प्रह्लाद जैसे धर्म-प्रवण, मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत राजा के उत्थान की कथा है। प्रह्लाद हिरण्य कश्यप का विष्णुभक्त पुत्र था, जिसे समाप्त करने हेतु उसके राक्षस पिता ने अनेक प्रयत्न किए, किन्तु विफल रहा। 'नृसिंह पुराण' में विस्तार के साथ हिरण्यकश्यप के दुराचारों के बारे में कहा गया है—

“न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यं सुरान् प्रति।

युष्माभिरहमेवाद्य त्रैलोक्याधिपतिः प्रजा।

ममैव पूजां कुरु यज्ञ दानादिकर्मणा।” — (नृसिंह पुराण। 40। 18-19)<sup>8</sup>

अहंकारी, क्रोधी हिरण्य कश्यप को मृत्यु दण्ड देने के लिए राजदरबार के एक स्तम्भ से नृसिंह भगवान विकराल रूप के साथ प्रकट हुए। न दिन में न रात में, न घर

में न बाहर, न आकाश में न धरती पर, न नर द्वारा न पशु द्वारा और न अस्त्र से न शस्त्र से किसी भी स्थिति में न मरने का वरदान प्राप्त करने वाले हिरण्यकश्यप को 'नृसिंह' रूप भगवान ने सन्ध्या काल में दरवाजे की देहरी पर अपनी जंघा के ऊपर रखकर तीक्ष्ण नखों से उसे विदीर्ण करके उसको मोक्ष दिया और अपने-आपको अजर-अमर ईश्वर मानने की भूल करने वाले एक निरंकुश क्रूर एवं आतताई राजा से प्रजा को मुक्त किया।

“यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥”<sup>9</sup>

— जब-जब भी धर्म की हानि होगी, अधर्म बढ़ेगा, तब-तब मैं धर्म की रक्षा करने हेतु अपने-आपको सृजित करूँगा।

सृष्टि विकास का क्रम यहाँ स्पष्ट है। यह अवतार मानवीय प्रकृति के मानसिक विकास क्रम का परिचायक भी है।

अवतार क्रम में अगले अवतार के रूप में 'वामन' अवतार का आविर्भाव माना जाता है। अति दानी राक्षसराज बली के अहं का नाश करने के उद्देश्य से भगवान ने वामन रूप धारण किया। ऋग्वेद के विष्णु सूक्त में अवतार के इस कथा का मूल उत्स देखने को मिलता है। शतपथ ब्राह्मण तथा वामन पुराण में विस्तृत वर्णन भी मिलता है। तीन पग धरती की याचना करते वामन—बटुक रूप विष्णु ने एक पग में सम्पूर्ण आकाश नाप लिया, दूसरे पग में सारी धरती। तीसरा पग रखने हेतु बली ने अपना सिर झुकाकर सम्पूर्ण समर्पण कर दिया। राजा बली समझ गए कि यह वामन साधारण नहीं है। भगवान ने बली को पाताल भेज दिया, किन्तु उनके 'सम्पूर्ण समर्पण' का मान रखते हुए भगवान ने उन्हें वर्ष में एक दिन धरती पर आकर अपनी प्रजा से मिलने की अनुमति दी। प्रजा वत्सल, महादानी राजा बली के सम्मान में आज भी केरल में ओणम का त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है।

तीन पग में सम्पूर्ण धरती को नाप लेने का जो प्रतीक वामन अवतार के साथ जुड़ा है, वह मानव विकास-क्रम में आकाश, पाताल एवं धरती अर्थात् जल-थल-नभ पर मनुष्य के विजय की कथा है।

वामन अवतार के पश्चात् 'परशुराम' का अवतार उस क्रोध का प्रतीक है, जो जीवन में सामंजस्य को बनाए रखने के लिए मनुष्य के भीतर सदैव विद्यमान रहता है।

परशुराम का अवतार सामाजिक सामंजस्य को साकार करने के लिए, दुर्दान्त क्षत्रियों की युद्ध-लोलुपता पर अंकुश लगाने के लिए तथा समाज में ब्राह्मण-वर्ग की निरीहता को तेजस्वी स्वरूप प्रदान करने के लिए हुआ था। ब्रह्म शक्ति एवं क्षत्र शक्ति के सामंजस्य से ही इस समाज का उद्धार सम्भव है; परशुराम-चरित का यही मूल मन्त्र है।

परशुराम के पिता जमदग्नि ऋषि को कार्तवीर्य अर्जुन ने प्रतिशोध लेने के लिए मार दिया था। कार्तवीर्य ही नहीं, अन्य योद्धा क्षत्रिय भी दुष्ट, ब्राह्मण-द्रोही और तमोगुणी हो रहे थे, अतः परशुराम ने उनका वध किया।

“दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमंब्रह्मण्यमनीनशत ।  
रजस्तमोवृत महन् फल्गुन्यपि कृतोहसि॥”

(श्रीमद् भागवत 9/15/15)<sup>10</sup>

महाभारत के सभापर्व में उल्लेख है कि क्षत्रियों से पीड़ित ब्राह्मण राम-राम कहकर आर्तनाद करते थे। भृगुनन्दन को अपने उद्धार के लिए कातर स्वर में बुलाते थे, तब भगवान परशुराम ने उन्हें बचाने के लिए क्षत्रियों का संहार किया—

“रामरामेत्यभिकृष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियदितैः । न्यघद दश सहस्राणि नामः परशुनाभिभूः ।  
न ह्यमृष्यत तां वाचमातैर्भुश मुद्रीरिताम् । भृगो रामाभिधावेति यदा क्रन्दन द्विजातयः ।  
(महाभारत सभापर्व—अर्धाभिहरण पर्व 38 अध्याय)

महाभारत के वन पर्व में चित्ररथ नामक विलासी राजा का वर्णन आता है, जिसने परशुराम की माता रेणुका के साथ दुर्व्यवहार किया, जिसका दण्ड रेणुका को भोगना पड़ा था।

“सा तु चित्ररथं नाम कार्तिकावर्तकं नृपम् ।  
ददर्श रेणुका राजन्नागच्छन्ती यदृच्छया ।  
कीडन्तं सलिले दृष्ट्वा स भार्यपद्ममालिनम् ।”

(महाभारत वनपर्व, तीर्थ यात्रा पर्व—111/6-7)

ऋषि जमदग्नि ने कारणवश क्रोध में आकर अपने क्रोधी पुत्र परशुराम को मातृ-हत्या की आज्ञा दे दी। पिता के आज्ञाकारी पुत्र ने माता रेणुका का शिरोच्छेदन कर दिया। यद्यपि परशुराम ने पिता से वरदान स्वरूप पुनः माता का जीवन दान प्राप्त कर लिया था, तब भी मातृ-हत्या भाव की ग्लानि से विचलित परशुराम ने वर्षों की तपस्या के उपरान्त ज्ञान प्राप्त कर समुद्र के तटीय क्षेत्रों में नारियल के वृक्षों का रोपण करके, सिर के बदले सिर अर्थात् नारियल फलों का दान करते हुए लोहित कुण्ड पहुँच, ब्रह्मपुत्र में स्नान कर मातृहत्या के पाप से विरत होने का प्रयास किया।

परशुराम की अवतार कथा में जिस सामाजिक समरसता का बीज छुपा है, वही आगे चलकर ‘दाशरथी राम’ अवतार के प्रकटीकरण का प्रमुख कारण बना। राम का जन्म गंगा के उत्तरी पठार से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम् तथा श्रीलंका तक के समस्त वन-प्रान्तर सह वनवासियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के महत् उद्देश्य से हुआ था।

‘राम’ ऋषि संस्कृति के संरक्षक बनकर अवतरित हुए और उन्हीं को संरक्षित करते हुए चौदह वर्षों का वनवास लेकर तमाम दुष्ट, कुटिल राक्षसों का संहार करते हुए महापातकी, दुराचारी, दुर्दमनीय राक्षस लंकाधिपति रावण का वध कर राक्षसों के आतंक से धरती का उद्धार किया। सीता स्वरूप स्वयं लक्ष्मी ने इस महत् कार्य में राम का साथ दिया। सम्पूर्ण वाल्मीकि रामायण राम कथा के मर्म एवं कर्म को शब्द स्वरूप में साकार करने वाला साधन है, जिसकी साधना जन्म-जन्मान्तर तक करते रहें, तब भी उसका ठीक-ठीक थाह पाना दुष्कर है। यही कारण है कि हजारों वर्षों से साहित्य साधकों द्वारा उपजीव्य बने रहने के बाद भी रामायण आज तक अनेकानेक अर्थ-उपार्थों, कथा-उपकथाओं एवं उसके पात्रों-सहपात्रों को नित-नवीन रूपों में समझते रहने की प्रक्रिया जारी है। यही इस कथा के सम्पूर्ण निःसर्ग के साथ समरसता का प्रतीक है।

शरणागत वत्सल ‘राम’ की प्रतिज्ञा है कि वे दण्डकारण्य के उस गहन सुरमय वन प्रान्तर को राक्षसों की हिंसा से बचाएँगे। जंगल में जहाँ उत्पाती राक्षसों का जोर है, वहीं वनचर विभिन्न प्राणियों का निवास भी है। सीता धरती पुत्री हैं, प्रकृति के प्रति सदैव हैं इसलिए राम से आग्रह करती हैं कि धनुष-बाण से आप मात्र राक्षसों का ही संहार करेंगे, वनचारी निरीह पशु-पक्षियों का नहीं।

“क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्।

धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्॥”<sup>11</sup>

(अरण्यकाण्ड 9वाँ सर्ग-26)

सम्पूर्ण रामायण वृक्ष-लताओं सह वन में विचरण करने वाले विभिन्न पशु-पक्षियों के साथ राजपुरुष राम के मित्रवत समन्वय स्थापित करने की कथा है। रावण द्वारा छल से सीता का अपहरण तो कारण मात्र है राक्षसी आतताइयों से वनों की रक्षा करने का। इस प्रयत्न में जटायु तथा सम्पाति जैसे पक्षियों के साथ वानर, भल्लुक आदि का साथ-साहचर्य राम की विजय यात्रा की साधक-सेना थी।

वस्तुतः राम की जिस वानर सेना को आज हम बन्दरों एवं रीछों की सेना समझते हैं वे वास्तव में ‘हरि’ के अंश हैं। वन प्रान्तरों में रहने वाले अनेक जातियों के वीर, बुद्धिमान तथा अनेक विशिष्ट शक्तियों के स्वामी। वे सामान्य मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली, गुणात्मक गुणों से ओतप्रोत वनवासी हैं। उन्हीं वनवासियों से मित्रता स्थापित कर उनकी शक्तियों को अपनी शक्ति से समन्वित करने हेतु राम ने वनवास स्वीकार किया था। नगर एवं वनवासियों की सम्मिलित शक्ति से ही राक्षसों के आतंक को समाप्त करना सम्भव था। ‘राम’ ने वही किया। यही ‘राम’ अवतार का उद्देश्य भी था।

‘राम’ द्वारा निर्मित ‘सेतु समुद्रम’ के उल्लेख के बिना इस कथा के पर्यावरणीय महत्त्व को ठीक से समझा नहीं जा सकता। वानर सेना के कुशाग्र बुद्धि अभियन्ता

नल-नील के संयोजन में भारत और श्रीलंका के मध्य जो सेतु बनाया गया था वह न केवल अद्भुत है, अपितु एक आश्चर्यजनक सत्य भी है। आज हजारों वर्ष बाद अत्याधुनिक अनुसन्धानों (नासा) द्वारा उस सेतु की सत्यता प्रमाणित हो चुकी है। पर्यावरणविदों का मानना है कि यदि उस सेतु को नष्ट किया गया तो सुनामी जैसे विनाशकारी महाचक्रवात भारतीय उपमहाद्वीप के अन्तरीप क्षेत्र को नष्ट कर सकते हैं।

भगवान 'राम' ने जिस सेतु का निर्माण किया था, वह भारत और श्रीलंका को जोड़ने के साथ-साथ भारतीय सागर-सम्पदा का रक्षक भी था, जो आज तक अपना कार्य कर रहा है।

रामकथा की समरस जीवन-शैली, सामाजिक समरसता, वसुधैव कुटुम्बकम् का ज्ञान, पात्रों की प्रतीकात्मकता, वन संस्कृति के साथ शहरी संस्कृति का अद्भुत समन्वय जैसे अनेकानेक अद्वितीय महत्त्वों के कारण भारत ही नहीं भारत के बाहर बसे सूक्ष्म अथवा बृहत्तर भारत की सीमाओं को पार करता आज भी सम्पूर्ण विश्व को उद्देलित, प्रभावित एवं आकर्षित करते आ रहे हैं।

थाइलैण्ड, कम्बोडिया, बाली, सुमात्रा, जावा, मलेशिया, इण्डोनेशिया और चीन तक में रामकथा अनेक रूपों में व्याप्त है। नाट्य रूपान्तरों एवं प्रस्तर में खुदे शिल्पों के द्वारा वे वर्तमान समय में भी जीवन्त हैं। आज मॉरीशस, फीजी आदि भारतवंशियों के नव उपनिवेशों में भी रामकथा तुलसीकृत 'मानस' के रूप में पहुँचकर आस्था के नवीन स्रोतों को संस्थापित कर रही है।

रामावतार के बाद 'कृष्ण' अवतार का नाम उद्धृत है। किन्तु, नृसिंह पुराण में ऋषि मार्कण्डेय ने 'कृष्णस्तु भगवान स्वयं' मानते हुए दशावतार में उनका वर्णन नहीं किया है। जयदेव ने भी कृष्ण को ही विष्णु रूप मानकर 'केशव धृत मीन शरीर' या 'केशव धृत वामन रूप' आदि कहते हुए गीत गोविन्द की रचना की है। जयदेव ने अष्टम अवतार के क्रम में हलधर का नाम लेते हुए लिखा है—

“वहसि वपुषि विशदेवरानं जलदाभम् ।

हलहिति भीति मिलित यमुनाभम् ।

केशव धृत हलधर रूपं, जय जगदीश हरे॥”<sup>12</sup>

हलधर अर्थात् कृषक। कृषक अन्नदाता है, पोषणकर्ता है, साक्षात् विष्णु का अवतार है। कृषि प्रधान भारत देश में हलधर की महत्ता स्थापित करने हेतु बलदेव को अवतार की श्रेणी में रखा गया है। बलदेव के मन्दिर कम हैं, किन्तु जगन्नाथ के साथ वे विशेष रूप से पूजा पाते हैं।

“अवतारवाद के सिद्धान्त के अनुसार 'कृष्ण' विष्णु के मानवीयकरण हैं, जिसकी अवतारणा एक विशेष उद्देश्य को लेकर हुई थी।”<sup>13</sup>



कृष्ण शब्द के प्रथम दर्शन ऋग्वेद (8.26) में देखने को मिलता है जहाँ कृष्ण एक ऋषि का नाम है।

‘छान्दोग्य उपनिषद्’ में कृष्ण देवकी-पुत्र एवं अंगीरस के शिष्य हैं। ग्रियर्सन तथा गार्गे आदि पश्चिमी विद्वान् इन्हें ही महाभारत के नायक कृष्ण के रूप में मानते हैं।<sup>14</sup>

पुराणों में कृष्णचरित का व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। ‘भागवत’, ‘हरिवंश’, ‘विष्णु’ एवं ‘ब्रह्म वैवर्त’ पुराणों में कृष्ण की अनेकानेक लीलाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। ‘ब्रह्म वैवर्त’ एवं ‘विष्णु पुराण’ के अनुसार कृष्ण-बलराम दोनों भाइयों ने ऋषि सान्दीपनी से अस्त्र-शस्त्र विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। ‘विष्णु धर्मोत्तर पुराण’ तथा ‘वैखानस-आगम’ एवं ‘शिल्प-रत्न’ नामक ग्रन्थ में कृष्ण तथा गोपियों की मूर्तियों से सम्बन्धित वर्णन मिलते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि प्राचीन अभिलेखों में भी कृष्ण के होने के प्रमाण पाए जाते हैं। राजस्थान के हाथीवाड़ा नामक स्थान पर ई.पू. तीसरी शताब्दी का ब्राह्मी लिपि का शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें वासुदेव कृष्ण की पूज्य पाषाण मूर्ति रक्षावेदिका, नारायण वाटिका आदि का उल्लेख है।<sup>15</sup>

महाभारत जैसे कालजयी महाकाव्य के नायक ‘श्री कृष्ण’ अपने समय के महान दार्शनिक, त्रिकालदर्शी राजनेता और अद्भुत नीतिज्ञ थे। अपने अद्वितीय चरित्र के कारण वे पूर्णावतार कहलाए।

भारतीय धर्म परम्परा में कृष्ण सम्पूर्ण कलाओं के साथ अवतरित हुए। शैशव अवस्था से ही उन्होंने अपने दैवीय गुणों का उद्घाटन करते हुए पूतना, यमलार्जुन, बकासुर, शकटासुर जैसे अनेक आतताइयों को मोक्ष दिया। वैदिक देवता इन्द्र की पूजा को नकारकर गोवर्धन पर्वत तथा गो-धन की पूजा को प्रतिष्ठित किया। भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में गौ-धन के महत्त्व को समझकर कृष्ण ने गाय, गोवर्धन और गो-पालकों को समाज में श्रेष्ठ स्थान दिया। बाल-गोपालों की सहायता से ‘ब्रज’ में दुग्ध-संरक्षण-योजना को साकार किया। ‘ब्रज’ को अतिवृष्टि से बचाने के लिए गोवर्धन-धारण किया और कालीय नाग के क्रोध से उन्हें बचाया।<sup>16</sup>

‘कृष्ण’ से जुड़ी ये कथाएँ प्रतीक-प्रसंग हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कालीय नाग को नाथने की कथा स्पष्टतः ब्रज-मथुरा आदि प्रान्तों की जीवन-रेखा के रूप में बहती जमुना जैसी महत्त्वपूर्ण नदी को भयानक प्रदूषण से मुक्त करने की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। ‘कृष्ण’ ने भयंकर वर्षा में गोवर्धन पर्वत के माध्यम से ब्रजवासियों की रक्षा की तो लगा गोवर्धन पर्वत को उन्होंने अँगुली में उठा लिया। इस प्रकार की वैज्ञानिक, तर्कसम्मत व्याख्याएँ आधुनिक कवि पं. अयोध्या सिंह हरिऔध ने अपने महाकाव्य प्रियप्रवास में बहुत खुलकर की है।<sup>\*17</sup>

भारतीय उपमहाद्वीप में बहुतायत में पाए जाने वाले बाँसवनों का महत्त्व ‘कृष्ण’ की बाँसुरी और ‘बंशीवट’ में उनकी क्रीड़ाओं के कारण व्यापक तथा अर्थवान

बने। 'कृष्ण' के कारण कदम्ब का वृक्ष, यमुना की कछार, ब्रज की धूलि, मथुरा के कारागार सब सामान्य से विशेष बन गए।

महाभारत का धर्मयुद्ध, निष्काम कर्मयोग की स्थापना का श्रेय 'कृष्ण' को ही जाता है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।" (गीता) कहकर कृष्ण ने जीवन में कर्म के महत्त्व को शीर्ष पर प्रतिष्ठित किया।

सामान्य से विशेष बनने की प्रक्रिया के साकार रूप हैं भगवान श्री कृष्ण।

सभी भारतीय भाषाओं के अजस्र वाङ्मय और अगणित लोक-कथाओं, गीतों में भक्ति, वात्सल्य, प्रेम, छल, बल और शौर्य के अद्वितीय नायक हैं 'कृष्ण'।

'बुद्धावतार' विष्णु भगवान का नवम अवतार माना जाता है। डॉ. राजबली पांडे के अनुसार बुद्ध को विष्णु का अवतार मानना वैष्णव धर्म की व्याप्ति एवं उदारता का प्रतीक है। किन्तु, अवतारवाद के क्रम में भगवान बुद्ध का महत्त्व निर्विवाद है।

बुद्धावतार की कथा भागवत में तो है ही, विष्णु और अग्निपुराण में भी उनका वर्णन मिलता है। विष्णु और अग्नि पुराण के अनुसार देवताओं की रक्षा के लिए भगवान माया-मोह स्वरूपी बुद्ध अवतारमें शुद्धोधन राजा के पुत्र हुए। भगवान बुद्ध ने मोहक एवं चारु वचनों द्वारा समस्त असुरों को परास्त किया। बुद्ध के प्राकट्य के पूर्व देश-भर में वैदिक यज्ञ और ईश्वर के नाम पर पशु एवं नर बलियाँ प्रचलित थीं। धर्म के नाम पर इस प्रकार के भयानक कृत्य करने वाले 'असुरों' को सन्मार्ग पर लाने हेतु भगवान बुद्ध ने अवतार ग्रहण किया। मोहक चारु वचनों तथा मायावी कथन द्वारा यज्ञादि एवं पशुबलि का विरोध करने के कारण उन्हें पुराणों में माया-मोह स्वरूपी बुद्ध अवतार कहा।<sup>18</sup>

भगवान बुद्ध का अवतरण धर्म को बौद्धिकता के साथ जोड़ने के लिए हुआ था। बुद्ध ने सनातन धर्म को बुद्धिग्राह्य बनाया। समय के साथ समाज में छाप सृजनात्मक अपकर्ष को दूर करके धर्म की नई व्याख्या, जीवन जीने का नया मार्ग बताने वाले गौतम बुद्ध ने समग्र विश्व को अपने विचारों से प्रभावित किया। भारत की सृजनात्मक शक्ति से भरपूर उन्मुक्त आत्म चेतना को खुलकर जीने का, धर्म को वास्तविक अर्थ ग्राह्यता के साथ समझने एवं समूह में जीवन को विकसित करने का राजपथ दिखाने वाले अवतार पुरुष थे गौतम बुद्ध।<sup>19</sup>

बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन, उनका व्यक्तित्व, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म सब कुछ प्रकृति से सामंजस्य की कथा कहते हैं। गौतम के जन्म के पूर्व माता मायादेवी को श्वेत हाथी के दर्शन होते हैं। हाथी भारतीय वनों का प्रतीक है। यह पूर्वाभास है 'आगत तथागत' के प्रकृति से गहन जुड़ाव का। गौतम का जन्म लुम्बिनी वन में शाल वृक्ष के नीचे होता है। समस्त प्रकृति ईश्वर के आगमन पर प्रणत होती है।<sup>20</sup>

सम्भ्रान्त समाज से विरत होकर, राजकुल का परित्याग कर धर्म-ज्ञान की खोज में गौतम वनों की ओर उन्मुख होते हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि गौतम ध्यान के लिए अश्वत्थ वृक्ष का चयन करते हैं। अश्वत्थ वृक्ष के लिए कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ।' श्रेष्ठ ऊर्जा से भरपूर वृक्ष के सान्निध्य में, उसे ही गुरु मानकर गौतम ने दीर्घ साधना की। अस्वस्थ वृक्ष का उपनिषदत्व (गुरु के समीप बैठकर ज्ञान अर्जन करना) ग्रहण करते हुए गौतम ने 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। सुदीर्घ तप के पश्चात् नवीन ज्ञान के प्रकाश द्वारा बुद्ध ने 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' किया। ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त प्रथम उपदेश दिया 'वन' में। आगे चलकर 'जैतवन' को प्रमुखतः निवास का स्थान बनाया। नगरों से दूर वनों, उपवनों में निवास करते हुए निरन्तर प्रवर्तन-दीक्षा प्रदान करते रहे। वर्षा ऋतु के चार मास 'यात्रा-वर्जित' रखा। कारण स्पष्ट है कि यह ऋतु वन-प्रान्तरों के विकास की ऋतु है। इन माहों में बीजों को विकसने-पनपने का, जंगलों के विस्तार का अवसर होता है। इन दिनों में वनों की यात्राएँ वर्जित थीं, ताकि 'संघ-समूह' वन-मार्ग का उपयोग कर वन-सम्पदा को बाधित न करें।

तथागत के शिष्य-संघ वनों-पर्वतों के एकान्त में मठों का निर्माण कर उनमें निवास करते थे, ताकि चिन्तन मनन में कोई बाधा उपस्थित न हो। 'मठ' एवं 'संघ' की यह परम्परा न केवल भारतीय धर्म-समूहों में अपितु ईसाई, विशेषकर 'ऑर्थोडॉक्स' ईसाइयों में—ग्रीस में आज भी देखने को मिलती है।

बौद्ध धर्म की इस परम्परा के अतिरिक्त अहिंसा, शान्ति, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति समभाव जैसे तमाम तात्त्विक विचारों सहित अनेक कथा-कहानियों ने बौद्ध धर्म के माध्यम से समग्र विश्व के सभी धर्मों में विस्तार पाया है। सर्वाधिक लोकप्रिय कथा तो स्वयं गौतम के जीवन की है जो मध्य एशिया — जॉर्जिया के मार्ग से होकर ग्रीस पहुँची और वहाँ 'वारलाम एवं योआसफ' नाम से एक ईसाई सन्त तथा ईसाई धर्म में अनुप्रणीत राजकुमार की कथा बन गई।<sup>21</sup>

भारत को एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करने वाले महान सम्राट अशोक ने तमाम क्रूर युद्धों के उपरान्त बौद्ध धर्म की शान्ति छाया में आकर विश्राम लिया। अशोक ने सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में बौद्ध धर्म के विकास में राजनीतिक शक्ति का सहयोग दिया। अश्वत्थ अर्थात् पीपल के पौधे को बुद्ध का प्रतीक बनाकर श्रीलंका एवं अन्य समीपस्थ देशों को भेजकर भगवान बुद्ध के विचारों को व्यापक रूप से प्रचारित-प्रसारित किया।

भगवान बुद्ध ने बलि-प्रथा का विरोध करते हुए प्राणी-रक्षा का जो मन्त्र दिया वह भारतीय धर्म-परम्परा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग बना। अहिंसा का यह मार्ग प्राणी मात्र से भी आगे वृक्ष-लताओं तक परिव्याप्त हुआ।

‘पीपल’ का वृक्ष कृष्णावतार का प्रतीक था तो बुद्ध अवतार का भी वही प्रतीक बना। यह भारतीय उपनिषद् परम्परा का विस्तार है। इस परम्परा का निर्वहन करना हमारा दायित्व बनता है। आज के समय में इसकी आवश्यकता भी है।

पौधों में प्राण, पौधों में भगवान, पौधों में हमारी संस्कृति का वास है। प्रकृति से सामंजस्य की यह परम्परा हमारे ‘धर्म’ की सनातन परम्परा है जो ‘अवतारवाद’ को कई-कई अर्थों में चिरन्तन सत्य के रूप में उद्घाटित करती आ रही है, करती रहेगी।

1. डॉ. राजबली पाण्डेय — *हिन्दू धर्म कोश* — उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ संस्करण—1978/1988/2003—पृ. 54
2. श्री वेदव्यास — *श्रीमद्भगवद्गीता* — गीता प्रेस, गोरखपुर — चतुर्थ अध्याय, अष्टम श्लोक
3. डॉ. राजबली पाण्डेय — (उपर्युक्तानुसार) — पृ. 54
4. विनय मोहन शर्मा — “जयदेव कृत गीतगोविन्द—हिन्दी रूपान्तर” — आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली, 1997—(प्रबन्ध 1, श्लोक 1) पृ. 85
5. (i) **Lois Rock (Retold)**—*The Story of NOAH - GENESIS 6-9 - BIBLE* - To Keep For Ever - P. 24 - Lion Hudson Pl, Oxford, England - p. 24-27
- (ii) **New World Bible Translation Committee** — *The World Translation of The Holy Scriptures* — Watch Tower Bible And Tract Society of New York, Inc. 1961-p. 14-17.
6. श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव—परशुराम — म. प्र. राष्ट्र भाषा समिति, भोपाल—संस्करण—प्रथम 1996 — पृ. 19, 22
7. विनय मोहन शर्मा — “जयदेव कृत गीतगोविन्द—हिन्दी रूपान्तर” — (उपर्युक्तानुसार) प्रबन्ध 1 श्लोक—3 पृ. 85
8. श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव — (उपर्युक्तानुसार) पृ. 24
9. श्री वेदव्यास — (उपर्युक्तानुसार)—अध्याय-4 श्लोक 7
10. श्री अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव (उपर्युक्तानुसार) पृ. 73-74
11. डॉ. विनय षडंगी राजाराम—“सम्पूर्ण निःसर्ग की समरसता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है रामायण” (निबन्ध) — साहित्य परिक्रमा विशेषांक — “भावरूप राम” —प्रका. अ. भा. साहित्य परिषद न्यास, दिल्ली — वर्ष 2012 — पृ. 71 (69-74)
12. विनय मोहन शर्मा—“जयदेव कृत गीतगोविन्द—हिन्दी रूपान्तर” — (उपर्युक्तानुसार) प्रबन्ध 1 श्लोक — पृ. 86

13. डॉ. उदय नारायण तिवारी—“भोजपुरी लोकगीतों में कृष्ण” — निबन्ध संकलन — “भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (द्वितीय खण्ड)” सम्पादक—आ. विनय मोहन शर्मा—मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष—1981, पृ. 162-162 (162-185)
14. डॉ. राजबली पाण्डेय — उपर्युक्तानुसार, पृ. 200
15. डॉ. कृष्ण दत्त वाजपेयी—“प्राचीन अभिलेखों में श्री कृष्ण” — निबन्ध-संकलन—“भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (प्रथम खण्ड)” सम्पादक—डॉ. भगीरथ मिश्र—मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष-1979, पृ. 196-197 (195-208)
16. डॉ. सत्येन्द्र—“ब्रज भाषा तथा बुन्देली में कृष्ण काव्य” — निबन्ध संकलन—“भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य (द्वितीय खण्ड)” सम्पादक—आ. विनय मोहन शर्मा—मध्यप्रदेश साहित्य परिषद प्रकाशन भोपाल, वर्ष-1981 पृ.6-7 (01-33)
17. पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध — “प्रिय प्रवास” महाकाव्य— प्रका. हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी संस्करण—त्रयोदश, वि. सं. 2023
18. डॉ. राजबली पाण्डेय — उपर्युक्तानुसार, पृ. 443-445
19. **Sh. Shishir Kumar Mitra** — “*The Vision of India*” — Jaico Publishing House, New York- Edition First-1949 pg. 15-19.
20. श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री—“ललित विस्तर” — उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ — प्रथम संस्करण — वर्ष 1987, पृ. 180
21. **Dr. (Smt.) Binay Rajaram** — “*Buddha Charitam & Balraam And Ioasaph - A Comparative Literary Study*” — Site Research in Greece, Under Publication.
22. **Photo Curtsy** — Intro. **By Robert Graves** “*New Larouse Encyclopaedia of Mythology*” — Hamlyn Publication-London/ New York/Sydney/Toronto

## भारतीय दर्शन : रहस्यवाद

नरेश कुमार अम्बष्टा\*

धर्म शब्द को यदि उसके प्राचीन मौलिक अर्थ में लिखा जाए तो वह किसी वस्तु या व्यक्ति की उस प्रकृति के स्वभाव को सूचित करता दीख पड़ेगा, जो उसमें तत्त्वतः निहित है अर्थात् जिसका अस्तित्व बने रहने के कारण ही, धारण करता है अर्थात् अपनी विशिष्टता के साथ उसे सदा प्रतिष्ठित किए रहता है। जहाँ तक पता चलता है कि धर्म शब्द का ऐसा प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद के उपमन्त्र को काम में लाना और इस प्रकार सभी धर्मों को यथावत् बनाए रखना कहा गया है। त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाम्या। अतोधर्माणि धारणम् (1-22-18) इस दृष्टि से जिस प्रकार अग्नि का धर्म जलाना है, जल का शीतल होना तथा सूर्य का प्रकाश फैलाना है, इसी प्रकार कोई धर्म-विशेष मनुष्य का भी हो सकता है। उस धर्म विशेष के ही कारण मनुष्य, मनुष्य है और उसके अभाव में वह नित पशुवत् प्राणी-मात्र कहला सकता है। मनुष्य के विषय में एक यह विशेष बात भी कही जा सकती है कि जहाँ प्राकृतिक पदार्थ वा साधारण प्राणी अपने से धर्म से अवगत नहीं हो पाते। वहाँ इसमें उसे भली-भाँति ज्ञान तथा समझ लेने की भी शक्ति है और इसी कारण यदि वह चाहे तो सदुपयोग या दुरुपयोग भी कर सकता है। अतः जब हम किसी धर्म विशेष का नाम लेते हैं तो साधारणतः वहाँ पर भी यही समझा जाता है कि उसके द्वारा किन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई होगी, जो मनुष्य के उक्त मौलिक या प्राकृतिक धर्म की सुसंगति में लाए जा सकते हैं तथा इसी कारण, उनका अनुसरण करना इसके लिए परम कर्तव्य हो जाता है और उनके पालन करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा भी करना पड़ता है।

रहस्यवाद धर्म के बाहरी आडम्बरों में विश्वास नहीं करता। सूफी और रहस्यवादी का धर्म न तो रोजा, नमाज और अजाँ तक सीमित है, न शंख, आरती और घड़ियाल के अधीन। रहस्यवादी की सारी पूँजी उसकी भगवत्-भक्ति होती है, उसका ईश्वर-प्रेम होता है। मूल में संसार के सभी धर्म एक हैं, क्योंकि सबका आरम्भ इसी जिज्ञासा से

---

प्रो. नरेश कुमार अम्बष्टा, पी.के. राय स्मारक महाविद्यालय, धनबाद।

हुआ है कि मनुष्य की किस्मत का मालिक कौन है, आदमी की रूह किस बड़ी रूह से मिलने को बेकरार है, जन्म के पूर्व आदमी कहाँ था और मरने के बाद वह कहाँ जाएगा। जब तक मनुष्य इस मौलिक प्रश्नों पर विचार करता है तब तक न तो वह हिन्दू होता है, न मुसलमान। इन मौलिक समस्याओं पर सोचते समय वह उस सामान्य निश्चय के पास रहता है जहाँ से सभी धर्म जन्म लेते हैं। धर्म चिन्तन में एक वक्त वह भी आता है जब सभी धर्म टूट जाते हैं अथवा एक साथ सभी धर्मों से एकाकार हो जाते हैं।

आचारशास्त्र तत्त्व ज्ञान दर्शन का एक आवश्यक अंग भी समझा जाता है, जिस कारण उसमें उसकी अनेक विशेषताएँ आ जाया करती हैं।

रहस्यवाद केवल मनुष्य के मौलिक और स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और इसे हम उसके उस रूप में स्वीकार नहीं कर सकते, जो उसे मजहब या सम्प्रदाय विशेष बन जाने पर मिला करता है सम्प्रदाय में ईश्वरीय शास्त्र (Theology) सृष्टिशास्त्र (Cosmology) तथा कर्मकाण्ड आदि पाए जाते हैं। लेकिन ये सभी रहस्यवाद के लिए गौण हैं। इसलिए Underhill ने कहा है “Where the philosopher guesses and argues, the mystic lives and looks, and speaks, consequently, the disconnecting language of first hand experience, not the real dialect of the schools.” दार्शनिक जहाँ अनुमान का तर्क से काम लेता है वहाँ रहस्यवादी उसी बात को अपने प्रत्यक्ष जीवन में उतारकर तथा उसके अनुसार अपने दृष्टिकोण को निर्मित कर जान और समझ लेता है। इसी कारण यह किसी विशुद्ध भाषा का माध्यम अपनाकर प्रत्यक्षानुभूति को अस्फुट वाणी द्वारा ही अपना काम ले लिया करता है।” रहस्यवाद का कोई-कोई रूप हमें अति प्राचीन काल से देखने को मिलता है। विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले उसे किसी अविकसित धार्मिक विश्वास का नाम देते हैं और कहते हैं कि उसमें इसका बीज निहित है। वास्तव में धर्म शब्द का अभिप्राय भी सम्भवतः पहले किसी-न-किसी जीवन-दर्शन का ही समझा जाता होगा। परन्तु धीरे-धीरे उसमें अनेक प्रकार की संकीर्ण भावनाओं का समावेश होता चला गया और धर्मशब्द किसी-न-किसी सम्प्रदायिक वर्ग के रूप में समझा जाने लगा। वर्तमान समय में धर्म-सम्बन्धी भावना बहुत कुछ संकीर्ण हो गई जान पड़ती है। परन्तु रहस्यवाद का सम्बन्ध प्रचलित धर्मों द्वारा उपासना-पद्धति में देखा जा सकता है। इसलिए रहस्यवाद का अध्ययन का मुख्य स्रोत हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, यहूदी धर्म, बौद्ध धर्म तथा ताओ जैसे अनेक धर्मों के साधना-पद्धति में पाया जा सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद को इसके वास्तविक रूप में जान पाने का साधन केवल धार्मिक विश्वास का ज्ञान मात्र ही हो सकता है। रहस्यवाद का अध्ययन धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र एवं साहित्य के दृष्टिकोण से भी किया जाता है। इसलिए रहस्यवाद का व्यापक रूप उपर्युक्त सभी क्षेत्रों में किया जाना चाहिए।

रहस्यवाद शब्द का निर्माण रहस्य के आगे वाद जोड़कर किया गया है। रहस्य शब्द का साधारण अर्थ गुह्य या एकान्त होता है। इसका प्रयोग विशेषकर धार्मिक या आध्यात्मिक प्रयोगों में किया जाता है। “श्रीमद्भगवत गीता में ही जहाँ भगवान कृष्ण अर्जुन के प्रति कहते हैं तू मेरा भक्त और सखा है, इस कारण मैंने तुम्हें यह सर्व रहस्यों में उत्तम रहस्य था पुरातन योग बतलाया है। (8-3) वास्तव में रहस्य शब्द का अर्थ “गूढ़ तत्त्व” मानना चाहिए अथवा सार तत्त्व है। प्रो. एस.एन. दासगुप्ता ने रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है।”

“Mysticism is not an intellectual theory : it is fundamentally an active formative, creative, elevative and ennobling principle of life....Mysticism means a spiritual group of the aims and problems of life in a much more real and ultimate manner than is possible to more reason. A developing life of mysticism means a gradual ascent in the scale of spiritual values experience and spiritual ideas. As such, it is many sided in its development and as many sided and complete as like trouble. Regarded from this point of all religions particularly of religion as it appears in the lines of truly religious man. (Chicago, 1927) plx(preface).”

“रहस्यवाद कोई बौद्धिकवाद नहीं है; यह मूलतः एक सक्रिय, रूपात्मक, रचनात्मक, अन्नायक तथा उत्कर्षप्रद सिद्धान्त हैं। इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को, उससे कहीं अधिक वास्तविक और अन्तिम ढंग से आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जितना शुल्क तर्क की दृष्टि से कभी सम्भव नहीं कहा जा सकता है।”

रहस्यवादपरक विकासों के मूल जीवन का अर्थ, आध्यात्मिक मूल अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार कल्पित सोपान द्वारा क्रमशः ऊपर चढ़ते जाना है। इस प्रकार अपने विकास की दृष्टि से यह बहुमुखी भी हुआ करता है और यह उतना ही समृद्ध होता है जितना स्वयं जीवन के लिए कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूल आधार बन जाता है और यह विशेषकर उन लोगों के जीवन में उद्धृत होता दीख पड़ता है जो वास्तव में धार्मिक पुरुष होते हैं। डॉ. दासगुप्ता द्वारा प्रस्तुत परिभाषा का मूल उद्देश्य रहस्यवाद के मूल स्रोत, उसके स्वरूप तथा उसकी कार्य-पद्धति एवं आदर्श का स्पष्टीकरण भी जान पड़ता है। यह रहस्यवाद के आवश्यक अंग को प्रस्तुत करता प्रतीत होता है।

Dr. W.R., Inge ने अपनी पुस्तक *Mysticism in Religion* में Pfleiderer की परिभाषा को उद्धृत किया है “Mysticism is the immediate feeling of the unity of the self with God. It is nothing, therefore but the fundamental feeling of religion the religious life at its very heart and centime but what makes the mystical special tendency inside religion is the endeavour to fix the immediateness of the life in God as such, as abstractual from all



intervening helps and channels whatever, and find a permanent abode in the abstract inwardness of a life of pious feeling. (Quoted at 25 of *Mysticism in Religion* by Dr. W.R. Inge)

“रहस्यवाद ईश्वर के साथ अपनी एकता का स्पष्ट संवेदन है, जिस कारण इसे हम उसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते कि यह अपने मूल रूप में केवल धर्म विषयक एक संवेदन मात्र है। परन्तु जिस विशिष्ट बात के कारण यह धर्म के अन्तर्गत किसी प्रवृत्ति विशेष का स्थान ग्रहण करता है यह ईश्वर में, उसके ईश्वर तत्त्व के ही अनुसार अपने जीवन का पूर्ण सान्निध्य निर्दिष्ट करना भी है। इस प्रकार सारे ऐसे साधनों एवं मार्गों से पृथक् रहकर जो हमारे लिए प्रायः माध्यमों का काम कर दिया करते हैं, यह एक पवित्र संवेदन के जीवन में प्रवेश भी कर जाना है तथा वहाँ पर उसके एकान्त अन्तर्व्यक्तित्व में अपना कोई चिरस्थायी निवास स्थान बना लेना है।”

इसी प्रकार प्रसिद्ध दार्शनिक Bertrand Russell ने भी रहस्यवाद की परिभाषा दी है—“Mysticism is in essence little more than a certain intensity and depth of feeling in regard to what is believed about the universe” रहस्यवाद तत्त्वता संवेदन की उस तीव्रता और गम्भीरता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है जो अपनी विश्वव्यापक भावना के प्रति अनुभव की जाती है।”

इस प्रकार रहस्यवादी अनुभूति विशुद्ध चेतना, संवेदन अथवा मनोवेग आदिमात्र के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। रहस्यवाद के सम्बन्ध में सत्यान्वेषण की चर्चा व्यर्थ है। हालाँकि तमाम रहस्यवाद की परिभाषा आर्थिक ही है। W.T. Stace ने Russell का रहस्यवाद को केवल किसी संवेदन मात्र के रूप में स्वीकार कर लेना अथवा इसे मनोवेग मात्र मान लेना इस बात के लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं हो सकता कि यह वस्तुनिष्ठ न होकर केवल आत्मनिष्ठ ही होगा। इसके विरोध में हम स्वयं उन व्यक्तियों द्वारा कथित अनुभवों को ही प्रस्तुत कर सकते हैं जिन्हें रहस्यवादी कहा जाता है—“But they ought to know what the experiences themselves are like better than Russell does and they invariably say that emotions : though it is not denied that, like occupations they have their own emotional W.R. Inge. *Mysticism and philosophy* is “वे अपनी ऐसी अनुभूतियों को स्वयं रसेल से कहीं अधिक जानते होंगे और वे एक स्वर से बतलाते हैं कि वे मनोवेगों से अधिक विषयानुभवों के रूप में हुआ करती हैं तथा इनमें मनोवेगपरक रंग भी अन्य वैसे अनुभवों के ही समान हो सकता है।”

रहस्यवाद को हम किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से भिन्न नहीं ठहरा सकते। जिस प्रकार किसी धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति और आध्यात्मिक जीवन रहा करता है। ठीक इसी प्रकार वह रहस्यवाद का भी जान पड़ता है।

Pringle Pattison ने कहा है कि “Mysticism appears in connection with the endeavor of the human mind to grasp the divine essence or the ultimate reality of things and to enjoy the blessedness of actual Communication with the highest. The first is the philosophic side of mysticism, the second is its religious side. God ceases to be an object and becomes an experience” “Mysticism in Religion by Dr. Inge p. 25.”

रहस्यवाद मानवीय चित्त द्वारा किए गए उस प्रयास के सम्बन्ध में दीख पड़ता है जो सारी वस्तुओं के ईश्वरीय सार तत्त्व अथवा अन्तिम तथ्य को आत्मसात् करने के लिए तथा सर्वोत्कृष्ट सत्ता को प्रत्यक्ष सान्निध्य का सत्य सौभाग्य प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। इसमें से प्रथम अंश रहस्यवाद के दार्शनिक पक्ष का है और दूसरा उसके धार्मिक अंश या पक्ष का सम्बन्ध है जहाँ ईश्वर केवल एक बाध्य वस्तुहीन रहकर अनुभूति का भी रूप ग्रहण कर लेता है।”

इस प्रकार मनुष्य की ओर से किए जाने वाले किसी तथ्य का आध्यात्मिक सत्ता की खोज सम्बन्धी दार्शनिक प्रयास है और इसके अन्तर्गत यह स्पष्ट होता है कि यह सारा सत्य मानवीय जीवन के किसी आदर्श की उपलब्धि के लिए भी किया जाता है। इसलिए डॉ. महेन्द्रनाथ सरकार नामक एक लेखक ने अपनी पुस्तक *Mysticism in Bhagvad Gita* (Calcutta Press 1944 Preface) में कहा है कि “Mysticism is an approach to Truth and Reality, which can be negatively indicated as non-logical.” — रहस्यवाद सत्य एवं वास्तविक तथ्य तक पहुँचने का एक ऐसा माध्यम है जिसे निषेधात्मक रूप में, तर्क शून्य कहा जा सकता है।

यदि रहस्यवाद की साध्य वस्तु को केवल ‘अवांङ मानसगोचर कहते हैं अथवा उसके सम्बन्ध में ‘नेति नेति’ जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे सामने एक बहुत बड़ी समस्या आनी है कि तब हमारे लिए किसी ऐसी सत्ता की प्रत्यक्ष अनुभूति का होना अथवा कम-से-कम उसकी किसी निर्विशेष या अनिर्दिष्ट एकता के अनुभव का होना भी कौन-सा अर्थ रखता है?

जब हम उसके विषय में अपनी कोई धारा ही नहीं बना सकते तब वह हमें किस प्रकार प्रभावित कर सकती है। क्योंकि उसका हमें कोई स्पष्ट या सीधा अनुभव नहीं हो सका है। जब हम यह जान लेंगे कि रहस्यवाद अनुभूति किस प्रकार हुआ करती है तो हमें सम्भवतः इस बात का भी ज्ञान हो सकता है कि वह किस बात की होती है। रहस्यवाद अनुभूति केवल साधक की दृष्टि से व्यक्तिगत ही कहला सकती है। उसकी वास्तविक प्रक्रिया का हमें कोई प्रत्यक्ष बोध नहीं हो सकता। वैसी दशा में हमें केवल वैसे साधनों के द्वारा किए गए वर्णनों पर विश्वास करना होगा।

इसलिए यह आवश्यक है कि हमें ऐसे साधनों तथा मार्गों को जानना होगा जिनका प्रयोग रहस्यवाद अनुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जा सकता है।

किन-किन साधनों को पूर्वी तथा पश्चिमी साधकों ने अपने काम में अधिकता लाते आए हैं। रहस्यवाद अनुभूति को योग या Union की संज्ञा दी गई है। यह योग या संयोग ही है जो साध्य एवं साधक के बीच घटित हुआ करता है। योग की स्थिति उत्पन्न होने के लिए हमें कायिक, मानसिक तथा व्यावहारिक यत्न करने पड़ते हैं। धर्म ग्रन्थों में योग की पद्धति की चर्चा विशेष रूप से की गई है, तथा उनका वर्णन उचित प्रतीत नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि रहस्यवादी साधकों को इसकी आवश्यकता पड़ी है, उन्होंने बहुधा वैसी पद्धति को अपनाया है या विशेष महत्त्व दिया है, जो उनके समाज में प्रचलित रहती है या उन्होंने अपने किसी मार्ग प्रदर्शक के निर्देशन अथवा स्वयं अपने विचार से अधिक उपयुक्त समझा तथा जो उनके लिए सुलभ तथा लाभदायक तक भी सिद्ध हुई है। योग की बहुत-सी पद्धतियाँ हैं जो निम्न हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मानसिक योग। मानसिक योग को 'राजयोग' अथवा समाधि योग भी कहा जाता है। राजयोग को अष्टांग योग भी नाम दिया जाता है जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि होते हैं, इससे किसी साधक के लिए साधारण उपक्रमों से लेकर अन्तिम स्थिति तक की रूपरेखा बनाने में सहायता पहुँचाते हैं। पातंजल योग में योग चित्तवृत्ति निरोध से लेकर कैवल्य को उपलब्ध कर लेने का भाव भी आपसे-आप आ जाता है। इन योगों की विशेषता इस बात में देखी जा सकती है कि उनका विभिन्न उपजनों द्वारा कायासाधन किया जाता है, मन्त्रयोग मन्त्रों के उच्चारण से कार्यसिद्धि की जाती है। क्षेत्र केवल मानसिक प्रक्रियाओं तक ही सीमित न रहकर प्रत्यक्ष व्यवहारों तक भी व्यापक बन जाता है। ये हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसे भोगों में प्रमुख—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग एवं प्रेमयोग जैसे नामों द्वारा अभिहित होते हैं, जिनका उद्देश्य क्रमशः ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा प्रेमपूर्वक वृत्तियों के निर्माण द्वारा किसी ऐसी मनोदशा को प्राप्त कर लेना रहा करता है, जहाँ साधक एवं साधन एक हो जाते हैं।

समकालीन दार्शनिकों के अनुसार धार्मिक अनुभव अवर्णनीय है। इन दार्शनिकों में लुडविग विटगिनस्टाइन, मैकफरसन तथा टामस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धार्मिक अनुभव के सम्बन्ध में विटगिनस्टाइन का मत है कि यह अनुभव रहस्यात्मक होने के कारण वस्तुतः अवर्णनीय है। इसका सम्बन्ध ऐसी रहस्यमयी सत्ता से है जिसके विषय में सार्थकतापूर्वक कुछ भी कहा नहीं जा सकता है। विटगिनस्टाइन ने यह विचार अपनी पुस्तक ट्रेकटेट्स लॉजिको-फिलोसोफिकस में व्यक्त किए थे। इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—“ईश्वर इस संसार में अपने-आपको अभिव्यक्त नहीं करता—सीमित समग्रता के रूप में संसार का अनुभव करना ही रहस्यमय है...। सन्देह वही किया जा सकता है जहाँ प्रश्न हो, प्रश्न वहीं हो सकता है जहाँ कोई उत्तर हो, और उत्तर वही सम्भव है जहाँ कुछ कहा जा सके...। हम यह अनुभव करते हैं कि

सभी सम्भव वैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर दिए जाने के बाद भी जीवन की समस्याएँ अधूरी रह जाती हैं। वस्तुतः कुछ ऐसी बातें हैं, जिन्हें शब्दों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। ये बातें ही रहस्यमयी हैं...। जिसके विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, उसके सम्बन्ध में हमें मौन ही रहना चाहिए।

जिस क्षण रहस्य की स्थिति की अनुभूति होती है, साधक परम आनन्द का अनुभव करता है। आनन्द से विभोर हो एक प्रकार के उन्माद का अनुभव करने लगता है। इस आनन्द को शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है। साधक नाचने-गाने लगता है, प्रलाप भी करने लगता है। ऐसी अनुभूति रामकृष्ण परमहंस को प्राप्त हुआ था। उनका जीवन दूसरों के लिए आदर्श है, उनका चरित्र अनुकरणीय है। वह कभी कुमार्ग पर नहीं चलता और वासनाओं का दास नहीं बनता। मन शान्त, बुद्धि स्थिर, अहंकार शून्य जीवन पवित्र हो जाता है। देह अन्य विकारों से मूल वह परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। उसके जीवन में काम-क्रोध, राग-द्वेष, मान-माया आदि मूलतः समाप्त हो जाते हैं।

## चित्र-विचित्र

---

माधुरी नाथ\*

परस्पर विरोधी चित्रों का जंजाल-सा दिखता है अपना देश, अपना समाज, अपना पड़ोस और पड़ोस के लोग।

समझ में नहीं आता कौन-सा चित्र सही है और कौन-सा गलत या यूँ कहें कि इनमें कौन-सी तस्वीर सच्ची है और कौन-सी झूठी? दोनों तस्वीरें देखने को एक साथ मिलती हैं हमें। दोनों की तस्वीरें होती हैं अपने देश की, अपने देशवासियों की, अपने आस-पड़ोस की, जिनसे हमारा दैनन्दिन का सम्बन्ध है, जिन्हें हम हर रोज देखते-सुनते और जानते-पहचानते हैं।

‘भारत महान है।’, ‘अपना देश भारत महान है’ हम जब-जब सुनते हैं, गौरवान्वित हो उठते हैं। महान देश के वासी होने के नाते गौरव-बोध होना स्वाभाविक है। देश की आर्थिक स्थिति सुधरती जा रही है, देश विकासशील देशों की श्रेणी से विकसित देशों की श्रेणी में शीघ्रता से बढ़ता जा रहा है—यह अत्यन्त सन्तोषजनक विषय है हम भारत-वासियों के लिए। देश विपन्नता से सम्पन्नता की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो रहा है, यह सच है। हर हाथ में आज मोबाइल है यानी “मुट्ठी में संसार”, सड़क पर सरपट दौड़ती असंख्य गाड़ियाँ प्रभावित करती हैं कि गाड़ीवालों की संख्या देश में निरन्तर बढ़ रही है। बड़े-बड़े शिक्षण-संस्थान, अस्पताल और होटल नित्य खुलते जा रहे हैं...के समाचारों से हम हर दिन वाकिफ होते रहते हैं, जो बड़े दावे के साथ हमें आश्चस्त करते हैं कि हमारे बच्चे ऐसे शिक्षण संस्थानों में पढ़कर काबिलियत की हद पार कर लेंगे, हर रोग और बीमारी का इलाज अब सुख-सुविधाओं से सम्पन्न बड़े-बड़े अस्पतालों में हो सकेगा यानी हर रोग से मुक्ति की गारण्टी अर्थात् लम्बी-से-लम्बी जिन्दगी।

---

\* सम्पर्क : 4 डी. गुरुवाटिका अपार्टमेंट, कैलाश बाबू स्ट्रीट, मेन रोड टैक्सी स्टैण्ड के समीप—राँची-834001; मो. 9430333791

होटलों की तो बात ही निराली है। बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे शहरों में भी बड़े-बड़े विशाल-से-विशाल होटल! गगनचुम्बी, अनेक कमरों वाले पाँच सितारों वाले ही नहीं, न जाने कितने कितने सितारों वाले होटल खुलते जा रहे हैं। ऐसे होटलों का खुलना ही तो प्रमाण है कि हमारा देश चमक रहा है, सम्पन्न हो रहा है। सम्पन्नता ...‘सोने’ का प्रतीक तो है ही। सोने की आभा हासिल करना मामूली बात तो नहीं। कितने खुश होते हैं स्वर्ण-पदक पाने वाले? ये पाने वाले चाहे खिलाड़ी हों या राज-काज चलाने वाले कुर्सी पर विराजमान कोई मदारी। सोने की चमक से चमकने तो लगता है न देश, और हम, कितने चमत्कृत हो उठते हैं हम देशवासी?

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश की आर्थिक स्थिति बड़ी शीघ्रता से सुधर रही है। प्रत्येक व्यक्ति की औसत आय क्रमशः बढ़ती जा रही है। मजदूरी करने वाले मजदूरों की दैनिक मजदूरी कई गुना बढ़ गई है। झोपड़ियाँ टूट रही हैं, उनकी जगह पर पक्के मकान बन रहे हैं। और नए मकानों को भी तोड़कर उनकी जगह बहुमंजिली इमारतें बन रही हैं। सड़कों के दोनों ओर बहुमंजिली इमारतों की कतारों से हवा-पानी और रोशनी की किल्लत भले ही हो जाए पर अपार्टमेंट में रहने की सुख-सुविधा तो लोगों को उपलब्ध हो ही जाती है न? लोग एक-दूसरे को जानें-पहचानें या नहीं, दुःख-सुख में साथ भले न दें पर एक साथ रहते तो हैं, एक ही भवन में, एक ही छत के नीचे! क्या इतना पर्याप्त नहीं अपनेपन के लिए? अपार्टमेंट की संस्कृति से नगरवासियों की जीवन-शैली में एक अद्भुत बदलाव आया है। मात्र बीस-पच्चीस वर्षों में बदलाव का यह रूप सचमुच आश्चर्य में डाल देता है हमें।

सिर्फ हम सोचकर देखें—हम क्या थे और अब क्या हैं? कहाँ गया वह पुराना भाई-चारा? कहाँ गया वह अपनापन जब हम दूसरों के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख मानते थे? जब हम होली-दिवाली साथ-साथ मनाते थे और पड़ोसी की बीमारी में रात-रात-भर जगते थे!

आज तो बगलवाले अपार्टमेंट में कोई बच्चा रो-रोकर बेदम हो रहा होता है या कोई मर जाता है तो कोई पूछता तक नहीं। यही संस्कार पनप रहा है आज के विकसित भारत में, और आज की यही संस्कृति, मानवता को दूषित करती जा रही है जो अत्यन्त शोचनीय है, चिन्तनीय भी।

छोड़िए अगल-बगल वाले दूसरों की बात। हम अपने लोगों की बात करें—एक ही शहर में भाई-भाई तो अलग-अलग रहते ही हैं, माँ-बाप भी अलग रहते हैं। यदि माँ-बाप बूढ़े और बीमार हैं तो अलगाव की सम्भावना और अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि उनकी देखरेख करने वाले बेटे-बहू फालतू नहीं होते कि उन्हें सँभालें? सँभालने के लिए उनके पास अपने ही दफ्तर के ढेरो काम रहते हैं, बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का खर्च, उनकी अपनी जिम्मेदारियाँ, साथ-साथ मीटिंग, पार्टी एवं क्लबों में उनकी

व्यस्तता! कहाँ है फुरसत और कहाँ है वक्त उनके पास कि वो बीते-जमाने की बीते लोगों को सँभालें? जगह इतनी कहाँ होती है—छोटे-छोटे दो-तीन कमरों वाले अपार्टमेंट में कि वे अपने परिवार के अलावा किसी और को साथ रखें। अपने परिवार की परिभाषा है आज—खुद अपने और बीबी-बच्चे। बच्चे भी कहाँ एक या दो। बस चले तो एक भी नहीं, क्योंकि पालना आजकल बड़ा कठिन है। पढ़ी-लिखी कामकाजी महिला घर से बाहर काम करेगी या दिन-भर घर में बैठकर मक्खी मारेगी? बच्चे पालना पुराने जमाने की बात हो गई।

नारी सशक्त हो रही है, पढ़-लिखकर अपने पैरों पर खड़ी भी। आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नारी में स्वावलम्बन की भावना दृढ़ हो रही है। यह सुखद पक्ष है, पर क्या यही सच है? क्या दहेज की दुर्घटनाएँ आजकल कम होती हैं? क्या महिलाएँ आज प्रताड़ित नहीं हो रहीं? क्या उनका शोषण कम है? व्यभिचार एवं बलात्कार की घटनाएँ क्या दिनोंदिन बढ़ती नहीं जा रही हैं? सच में देखा जाए तो लड़कियाँ आज कहीं भी सुरक्षित नहीं! छोटी-से-छोटी लड़की ही नहीं, लड़के भी कुकर्म के शिकार हो रहे हैं। लोमहर्षक घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि आजादी के प्रायः सत्तर वर्ष बाद भी देश की महिलाएँ...हर उम्र की महिलाएँ, बूढ़ी, जवान, नाबालिग बच्ची या कोख में पल रही मादा भ्रूण सुरक्षित नहीं। असुरक्षा की तलवार उनके सर पर सदैव लटकती रहती है। बचने के लिए वे कहाँ जाएँ या क्या करें? औरतों की सच्ची तस्वीर तो यही है। उनका अपहरण होता है। वे बेची-खरीदी जाती हैं बेजुबान जानवरों की तरह या बेजान साग-सब्जियों की तरह। औरतों की तस्करी में दिनोंदिन इजाफा होता जा रहा है और बढ़ता जा रहा है जिस्म-फरोशी का व्यापार। कितना घृणित और गर्हित है यह प्रसंग देश के लिए, देशवासियों के लिए और स्वतन्त्र भारत के लिए जिसे अपनी संस्कृति पर नाज रहा है सदियों से और जो अपने-आपको कभी विश्व का गुरु रहने का दम्भ रखता है।

यह सच है कि अपने देश में बड़े-बड़े शिक्षण संस्थान मौजूद हैं। खुलते भी जा रहे हैं—एक के बाद एक और एक से बढ़कर एक। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी अपने नाम के साथ-साथ देश का नाम भी रोशन कर रहे हैं। यश के साथ धन भी कमा रहे हैं, खुश भी हैं अपनी कामयाबी पर, परन्तु क्या अधिकांश ऐसे यशस्वी विद्यार्थी विदेश की शोभा नहीं बढ़ा रहे? उनकी शिक्षा-दीक्षा, कार्य कुशलता या क्षमता क्या विदेशों में गिरवी नहीं रखी जा रही? गिरवी ही क्यों? हमारे यहाँ के सर्वाधिक समर्थ युवक विदेशों की सम्पत्ति बनते जा रहे हैं। वहीं बसते जा रहे हैं—वहीं के रंग में रँगकर अधिकाधिक भौतिकता के जाल में फँसते जा रहे हैं। यह एक दुःखद एवं निराशाजनक स्थिति है। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपने देश की पहचान होती है। उसे ही भूल जाना या भूला देना अपने-आपको खो देने जैसा है... यह बात बड़ी दुःखद है, मन को कचोटती है।

हम समझते हैं कि अधिकांश भारतीयों की यही समझ है कि हम तरक्की पर हैं...हम विकास के पथ पर अग्रसर हैं...हमारी प्रगति हो रही है...हमारी युवा पीढ़ी की तेजस्विता में हमारा देश चमक रहा है। काश! इस सच्चाई को हम ठीक-ठीक समझ पाते। ऐसा लगता है दीपक तले अँधेरा है। दीपक का प्रकाश विदेशों को मिल रहा है ...हमारी युवा पीढ़ी अपने आलोक से विदेश की भूमि को आलोकित कर रही है और अपने देश का, दीपक के तल भाग का अँधेरा क्रमशः घनीभूत होता जा रहा है। दुःख तो होता ही है देश की युवा पीढ़ी को विदेश में फलते-फूलते देखकर। उन वयस्क दम्पतियों की पीड़ा और त्रासदी का अनुमान तो वैसे भुक्तभोगी माता-पिता ही कर सकते हैं जिनकी सन्तानें विदेशों में जाकर बस जाती हैं...कभी-कभार मेहमानों की तरह दो-चार दिनों या सप्ताह-भर के लिए आकर उनके टीसते घाव को कुरेद जाती हैं।

वही देश उन्नत, समृद्ध और सम्पन्न माना जाता है जिसमें बड़े-बड़े मॉल (बड़ी-बड़ी दुकानों से सुसज्जित) हों, विशेषज्ञ डॉक्टरों वाले बड़े-बड़े अस्पताल और आधुनिक सुख-साधनों से सुसज्जित भव्य और विशाल अनेकानेक होटल हों। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से हमारा देश काफी सम्पन्न और समृद्ध है। बड़े-बड़े शहरों में तो बड़े-बड़े मॉल हैं ही, छोटे शहरों में भी उनकी कमी नहीं। दिनोंदिन मॉलों की संख्या बढ़ती जा रही है और बढ़ती जा रही है उनमें जाने और खरीददारी करने की लोगों की प्रवृत्ति। यह एक शुभ संकेत ही है। पर इसके पीछे की मानसिकता पर जरा विचार करें। एक हवस के रूप में विकसित होता जा रहा है मॉल के प्रति लोगों का आकर्षण।

बिना जरूरत के कुछ खरीद लेना। बिना भूख के चटपटी चीजों से जिह्वा को तृप्त करना और बेवजह समय को बरबाद करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है मॉलों की तड़क-भड़क से। पैसे की बर्बादी तो होती ही है, समय और शक्ति का अपव्यय भी बहुत होता है। बच्चों, युवकों को गुमराह करने के अच्छे साधन हैं आज के मॉल। होटलों का तो कहना ही क्या? नित्य बड़े-से-बड़े होटलों का खुलना और ऐशो-आराम से भरपूर जिन्दगी जीने के लिए उनके आकर्षक विज्ञापनों का प्रलोभन एक ओर देश की सम्पन्नता का इजहार करते हैं तो दूसरी ओर लोगों को ऐय्याशी और लौकिक सुख को ही सर्वोपरि मानने का सन्देश देते हैं। दोनों का ही परस्पर विरोधी प्रभाव पड़ता है लोगों पर, विशेष कर, अपरिपक्व एवं युवापीढ़ी पर। पैसे से भौतिक सुख भले की कुछ दिनों के लिए कोई खरीद लें, पर वह सुख स्थायी नहीं होता, न उसमें शान्ति होती है। एक प्रकार से वे असन्तोष और अशान्ति उत्पन्न करते हैं मनुष्य के मन में, उसकी मौजूदा हालातों के प्रति। इसीलिए तो पैसे के प्रति अधिकाधिक मोह बढ़ता है और षड्यन्त्र एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। घोटाले होते हैं और कालाबाजारी। घूस लिए जाते हैं और लोग लूटे जाते हैं उन्नति की आड़ में अवनति का यही तो चित्र है।



शिक्षण संस्थानों की हमारे देश में कमी नहीं। एक-से-एक शिक्षण संस्थान हैं जहाँ ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जाती है। यहाँ से शिक्षा-प्राप्त हमारे विद्यार्थियों की बड़ी पूछ है विदेशों में। उन्हें मान-मर्यादा के साथ ऊँचा ओहदा भी मिलता है। यह निश्चय ही गर्व का विषय है। अब जरा, हम इन उच्च शिक्षण संस्थानों की कार्य-प्रणाली पर विचार करें। दिल्ली, मुम्बई, बेंगलूरु, पुणे, चेन्नई, कोलकाता के शिक्षण संस्थानों पर देश को नाज है...अच्छे-से-अच्छे डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक एवं अत्याधुनिक विषयों में पारंगत होकर यहाँ के विद्यार्थी निकलते हैं, यह बड़ा ही सुखद पक्ष है। पर यहाँ प्रश्न उठता है कि देश की आबादी का कितना प्रतिशत इन शिक्षण संस्थानों के द्वार तक भी पहुँच सकता है? उत्तर मिलेगा बहुत कम! इन शिक्षण संस्थानों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए प्रतिभावान होना उतना जरूरी नहीं, जितना धनवान अभिभावकों की सन्तान होना। जिनके अभिभावकों की लाखों-लाख की कमाई होती है, जो अपनी सन्तानों पर कई-कई लाख खर्च करने की सामर्थ्य रखते हैं, उन्हीं के बच्चे ऐसे उच्च शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई कर सकते हैं और अपनी शिक्षा से अपना और समाज का नाम रोशन कर सकते हैं। पर ऐसे सामर्थ्यवान पिता कितने हैं? और कितने हैं उनके बच्चे? हर समर्थ घराने में एक या दो ही सन्तान होती है, इसलिए जी खोलकर, पूरी शक्ति लगाकर उसकी शिक्षा पर खर्च करने की प्रवृत्ति चरमावस्था पर होती है। यह ठीक भी है—विद्यार्जन तो जीवन का मुख्य ध्येय होना ही चाहिए। पर उस बच्चे की तो सोचिए...उस पर क्या बीतता है? पढ़ाई के बोझ तले उसे क्या साँस लेना भी दुश्वार नहीं होता? वह तो बचपन से लेकर किताबों के बोझ और पढ़ाई के तनाव से ग्रसित रहता ही है, एक अजीब-सी मनःस्थिति से गुजरने को बाध्य भी होता है, क्योंकि उसका साथी जो उससे अधिक प्रतिभावान, बुद्धिमान एवं समझदार होता है, उच्च शिक्षा इसलिए नहीं पा सकता, क्योंकि उसका पिता, उसके पिता की तरह धनवान नहीं और अपने बेटे की पढ़ाई में लाखों का खर्च नहीं कर सकता।

प्रतिभा की तो हर जगह कद्र होती है। होनी भी चाहिए, पर क्या हमारे यहाँ प्रतिभा की कद्र है? नहीं है, शायद बिल्कुल ही नहीं है, तभी तो आरक्षण है और आरक्षण से उपजा असन्तोष व्याप्त है समाज के कोने-कोने में। प्रतिभावान, समर्थ और कुशल डॉक्टर, इंजीनियर या प्रशासनिक सेवा में कार्यरत कोई अफसर अपने-अपने क्षेत्र में पीछे रह जाता है और आगे निकल जाता है उससे अयोग्य व्यक्ति आरक्षण के बल पर। ऐसी स्थिति में पीछे रह जाने वाले में असन्तोष तो होगा ही। वह अपने-आपको अपमानित भी महसूस करता है और एक अजीब-सी कुण्ठा से ग्रसित हो जाता है। हर क्षेत्र में, चाहे वह क्षेत्र स्वास्थ्य सेवा को हो, प्रशासन का हो, उद्योग का हो या शिक्षा का ...सर्वत्र ही लोगों के बीच असन्तोष है, तनाव है और कुण्ठा है। इनसे निजात पाकर ही स्वस्थ समाज का विकास हो सकता है। देश के नेताओं, सत्ताधारियों

एवं हित-चिन्तकों को इस दिशा में सोचना ही चाहिए कि समाज के व्यक्ति कैसे असन्तोष, कुण्ठा एवं तनाव से मुक्त हों।

अब जरा अस्पतालों एवं स्वास्थ्य सेवाओं की ओर मुखातिब हों। अस्पतालों की, विशेष रूप से सरकारी अस्पतालों की हालत तो प्रायः सभी बेहाल हैं। न ठीक से दवा, न इलाज, न समय पर डॉक्टर और ना ही मरणासन्न रोगियों के लिए खून या ऑक्सीजन की उपलब्धता! “मरता क्या नहीं करता” के अनुसार सरकारी अस्पतालों में वे ही जाते हैं, जिनके पास वहाँ जाने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं होता—गरीब, बीमार, असमर्थ और बूढ़े बिचारे जाएँ तो कहाँ जाएँ? झूठ मारकर वहाँ जाते हैं, जहाँ जाने को विवश हो जाते हैं।

निजी अस्पतालों की तो बात ही कुछ और है। बड़े-बड़े होटलों-सी तड़क-भड़क वाले ऐसे अस्पतालों की ठाट-बाट से लोग पहले तो चकाचौंध हो उठते हैं। वहाँ वे ही जाते हैं या जा पाते हैं, जिनके पास वहाँ का खर्च उठाने की सामर्थ्य होती है। गाँठ में यदि लाखों है और हजारों-हजार रोज खर्च करने की हैसियत है, तभी निजी अस्पतालों में कोई प्रवेश कर सकता है। “पैसेवालों से जितना लूट सको, लूट लो”—इसी सिद्धान्त पर चलते हैं निजी अस्पताल। वहाँ बेवजह जाँच-पर-जाँच किए जाते हैं। बेहतरीन इलाज के लिए बार-बार एक्स रे, सी.टी. स्कैन और न जाने क्या-क्या किए और लिए जाते हैं। अन्धाधुन्ध खर्च! तबाही और परेशानी का अन्त नहीं होता जहाँ, वे ही हैं बड़े प्राइवेट अस्पताल। बीमारी ठीक हुई तो ठीक, नहीं तो वेण्टिलेटर किस काम का? उसका इस्तेमाल भी तो होना चाहिए न! रोगी को, जिसका रोग लाइलाज होता है और मृत्यु निश्चित है, उसे आज के डॉक्टर चैन से मरने के लिए घर ले जाने की अनुमति नहीं देते और उन रोगियों को भी नहीं देते, जो अन्तिम साँस लेते रहते हैं—डाल देते हैं उन्हें वेण्टिलेटर पर जो उन्हें कृत्रिम साँस देकर जिलाए रखता है। जिलाए रखता है मरने के बाद भी, कई-कई दिनों तक ताकि मरने वाले के परिवार वेण्टिलेटर का बिल भरें। करोड़ों की लागत से बने अस्पताल का खर्च कैसे निकलेगा? और कमाई भी तो शानदार अस्पताल से शानदार ही होनी चाहिए! इसलिए कमाई के जरिया बनते हैं वहाँ इलाज करवाने वाले, बीमार, रोगग्रस्त एवं अस्वस्थ मरीज। यह बात न तो अतिरंजित है और न ही झूठ! प्रायः ऐसे किस्से सुने जाते हैं। कहने वाले भुक्तभोगी होते हैं सताए हुए, निजी अस्पताल के जाल में फँसे हुए लोग।

मृत व्यक्ति को वेण्टिलेटर पर सुलाकर अस्पताल का बिल बढ़ाना कैसा पैशाचिक कृत्य है! यह कृत्य वे करते हैं, जिन्हें जनता ‘देवता’ कहकर पूजती है, क्योंकि उनमें जान बचाने की क्षमता होती है। कई दिन पहले की घटना का जिक्र यहाँ आवश्यक लगता है। कानपुर के ‘हैलेट’ अस्पताल में एक बाप अपने बारह वर्षीय पुत्र को गोद में लेकर इलाज के लिए भटकता रहा। अस्पताल के रवैये से, वहाँ की अव्यवस्था से, डॉक्टरों की उपेक्षा या उदासीनता से वह घण्टों यहाँ-से-वहाँ भटकता

रहा। ठोकर खाता हुआ इधर-उधर चक्कर लगाता रहा। बिना इलाज के, बिना जाँच और दवा के आखिर में उसके बच्चे ने उसी के कन्धे पर दम तोड़ दिया। बेचारे बाप को अपने बीमार बच्चे के लिए एक स्ट्रेचर भी उपलब्ध नहीं हो सका था। कितना मार्मिक है अस्पताल का यह कारनामा! कितना बड़ा कलंक है यह अस्पतालों की व्यवस्था पर। क्या इस पर क्षोभ और असन्तोष व्यक्त करना भी गुनाह है? यदि ऐसी निर्मम घटनाओं पर कोई क्षोभ व्यक्त करता है या उसकी भर्त्सना करता है तो भी कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि शिकायतें या तो झुठला दी जाती हैं या दबा दी जाती हैं। सच्चाई दबाने और झुठलाने वाले चूँकि शिकायतकर्ताओं से अधिक सशक्त होते हैं, इसलिए स्थिति की कोई गुंजाइश नहीं होती।

लोगों की आमदनी विगत कुछ वर्षों से काफी बढ़ गई है, इसमें सन्देह नहीं, पर क्या गरीबी दूर हुई है? स्कूलों की संख्या बढ़ी है, स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ती जा रही है, पर शिक्षा का स्तर क्या बढ़ा है?

विकास एवं प्रगति के लिए उठाए गए कदम प्रायः गलत साबित हो जाते हैं, यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है। ज्यों-ज्यों नारी सशक्तीकरण का मामला जोर पकड़ता जा रहा है, नारियों का अत्याचार बढ़ता जा रहा है। इस बात की पुष्टि दूरदर्शन एवं समाचार-पत्रों से लगातार होती रहती है। इस दिशा में किए गए सारे उपाय प्रायः व्यर्थ हो रहे हैं। “बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ” नारा भले ही बुलन्द हो रहा है, कुछ बेटियाँ भी बुलन्द हो रही हैं, पर इस बात का इतना प्रचार और प्रसार हमें अन्य देशवासियों की नजरों में गिराता ही है, कि “हम अपने यहाँ की बेटियों को बचाना नहीं जानते, न पढ़ाना-लिखाना जानते हैं।” “बेटा-बेटी में कोई फर्क नहीं,” “बेटी भी बेटा के समान है” आदि जुमलों का ढिंढोरा पीटना भी अनुचित है। इसका प्रभाव बेटियों के मन-मिजाज पर अनुकूल नहीं पड़ रहा है। मानसिक असन्तुलन से प्रायः लड़कियाँ गुजरने लगती हैं, क्योंकि इन जुमलों या नारों का प्रभाव छोटी बच्चियों पर अनुकूल या उचित नहीं पड़ता। या तो उनका आचरण और व्यवहार लड़कों जैसा होने लगता है या वे दुस्साहसी हो जाती हैं।

यही हाल है ‘स्वच्छता अभियान’ का भी। स्वच्छता के नाम पर करोड़ों रुपये खर्च हो तो रहे हैं, पर सफाई सिर्फ स्वच्छ जगहों में ही हो रही है। उपेक्षित पड़ी हैं छोटी जगहें, छोटी-छोटी सड़कें जिनकी संख्या अधिक है। गन्दगी का अम्बार लगा रहता है सड़क किनारे। नालियाँ बजबजाती रहती हैं। कूड़े-कचरों की ढेर से लोगों का सड़क पर चलना मुश्किल। पैसों का खर्च तो बहुत हो रहा है पर क्या सही ढंग से हो रहा है? सफाई के नाम पर खाने और खिलाने का एक और नया रास्ता खुल गया है जैसे। पता नहीं नगरपालिका क्या करती है आजकल? एक ओर स्वच्छता अभियान का प्रचार है तो दूसरी ओर गन्दगी का अम्बार। एक ही चित्र के दो रूप!

इसमें सन्देह नहीं कि शौचालय का मुद्दा अत्यन्त गम्भीर है, बहुत ही जरूरी है मानवजाति के लिए, सभ्य-शिक्षित समझे जाने वाले हर इन्सान के लिए। दुर्भाग्यवश यदि भारतवासियों में अधिकांश, इस उपयोगी वस्तु से वंचित रहे। सरकार का ध्यान इस ओर गया है और वह इस दिशा में गम्भीरता से सक्रिय है यह एक शुभ संकेत है।

ये ही कुछ तस्वीरें हैं अपने देश की। सुन्दर और स्पष्ट तस्वीरों के साथ उसके निगेटिव भी हैं। सुन्दर-स्पष्ट तस्वीरों को देखकर मन प्रसन्न हो उठता है—हम विकास के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, हमारा भविष्य उज्ज्वल है और हम शीघ्र ही अपनी खोई हुई गरिमा को प्राप्त कर गौरवान्वित हो उठेंगे। तस्वीरों के इस संकेत से हमें बड़ा ही उत्साह मिलता है, हममें एक नई ऊर्जा का संचार होने लगता है। यह स्वाभाविक भी है, शोभनीय भी। पर इसी तस्वीर के साथ लगी तस्वीर की निगेटिव, जो धुँधली है, अस्पष्ट एवं काली, हमें निराश करने लगती है। तस्वीरों के इस अन्तर को हमें मिटाना होगा। हमें, यानी हम सामान्य जनों को, एक-एक इन्सान को। हर व्यक्ति पर देश की जिम्मेदारी है। जब तक हर व्यक्ति देश के विकास या उत्थान, प्रगति या उन्नति के लिए सहयोग नहीं देगा, हर कन्धा देश का भार वहन नहीं करेगा—अपना देश उन्नति नहीं कर पाएगा। प्रगति के नाम पर या विकास के नाम पर आगे बढ़ने या महान बनने का दावा झूठा ही साबित होगा।

## महावीर और गाँधी की समानान्तर धर्म-दृष्टि

श्रीरंजन सूरिदेव\*

भगवान् महावीर और महात्मा गाँधी दोनों की धर्म-दृष्टि प्रायः समानान्तर थी। महावीर ने अपने धर्म की मूल दृष्टि को पाँच व्रतों के रूप में उपन्यस्त किया है : अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महात्मा गाँधी के धर्मगुरु जैन थे। उनका नाम रायचन्द है। इसलिए, महात्मा गाँधी का जैनधर्म से प्रभावित होना असहज नहीं था। गाँधी जी ने अपने धर्म को ग्यारह व्रतों के रूप में उपस्थापित किया। इन ग्यारह व्रतों में प्रारम्भ के पाँच व्रत महावीर के पाँच व्रत ही हैं। इन व्रतों को गाँधी जी ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है :

*अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रहः ।*

*शरीरश्रम अस्वादः सर्वत्र भयवर्जनम्॥*

*सर्वधर्मसमानत्वं स्वदेशी अस्पर्शभावना ।*

*ह्येकादशभिः सेवाभिः नम्रत्वं व्रतनिश्चये॥*

ये दोनों श्लोक छान्दस दृष्टि से पूर्ण शुद्ध नहीं हैं, परन्तु गाँधी-निर्मित हैं, इसलिए इन्हें आर्ष प्रयोग माना जाता है।

यों तो महावीर के पाँच व्रतों की व्याख्या ततोऽधिक विस्तार से जैनग्रन्थों में उपलब्ध है। यहाँ संक्षेप में उसकी विवेचना प्रस्तुत है :

अहिंसा : किसी प्राणी का वध न करना-मात्र ही अहिंसा नहीं है। हिंसा प्राणी-वध मात्र तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य मन, वचन और काय के स्तर पर हिंसा करते हैं। आपने मन में किसी के अनिष्ट का विचार किया तो वह हिंसा हो गई। मन में किसी के बारे में बुरा सोचना मानसिक हिंसा है।

\*साहित्य वाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पूर्व व्याख्याता : प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली, पूर्व उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक : 'परिषद्-पत्रिका' बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना; पता : 'शुभैषणा', एममोकैक्टरी कैम्पस, श्रीनगर कॉलोनी, निकट संस्कार स्कूल, सन्दलपुर, पो. महेन्द्र, पटना-800006 (बिहार); मो. 09334493468

आपके वाग्व्यवहार से, बोलने में कटुता आने से वह वाचिक हिंसा हो जाती है। धनुष से छूटे तीर से जो घाव होता है, वचन के तीर से होने वाला घाव उससे कहीं अधिक पीड़ादायक होता है। वह तीर आजीवन हृदय में चुभता रहता है।

सत्य : आपके सत्य बोलने से यदि किसी की हिंसा हो जाती है, तो वह सत्य नहीं असत्य है। जैव शास्त्रीय ग्रन्थ 'लाटी संहिता' में लिखा है :

*सत्यं असत्यतां याति क्वचिज्जीवानुहिंसनात् ।*

*असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवानुरक्षणात्॥*

आपके सत्य बोलने से किसी की हिंसा होती है, तो वह असत्य हो जाता है, और आपके असत्य बोलने से किसी की प्राण-रक्षा होती है, तो वह सत्य हो जाता है।

अस्तेय : किसी का कुछ न चुराना ही अस्तेय या अचौर्य नहीं है। मनुष्य कई स्तरों पर चोरी करता है। जैसे, जिसे न देखने की मनाही है, उसे मनुष्य खास तौर से आँख चुराकर देखता है। चोर कई प्रकार के होते हैं। कोई व्यापारी कर की चोरी करता है तो कोई साहित्यकार या लेखक दूसरे लेखक की लिखी बातों की चोरी करता है। धन चुराने वालों की तरह साहित्यिक चोरों की भी कमी नहीं है। साहित्य-चोरों की तरह कला-चोर भी अनेक हैं। सिनेमा-जगत् में ऐसे चोरों की चर्चा होती ही रहती है।

ब्रह्मचर्य : ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल विवाहित न होना ही नहीं है। आज कहने को ब्रह्मचारी तो अनेक हैं, पर परस्त्री-सेवन करते हैं। गीता में ऐसों को मिथ्याचारी कहा गया है। गीता का कथन है :

*कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।*

*इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (गीता : 3.6.)*

अर्थात् वचन, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को संयत करके जो भगवत् ध्यान के छल से ऐन्द्रिय विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी या कपटाचारी है। इसीलिए भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य की परिभाषा की है—'स्वदारसन्तोषित्वं ब्रह्मचर्यम्।' जो अपनी पत्नी में ही सन्तोष करे, वह ब्रह्मचारी है। तभी से यह कहावत प्रचलित है—'एक नारी ब्रह्मचारी'।

अपरिग्रह : महावीर का पाँचवाँ व्रत अपरिग्रह है। अपरिग्रह का अर्थ है अपने संचित धन के प्रति स्वामित्व का अभाव। भगवान् महावीर धन-संचय के लिए मना नहीं करते, पर उस धन पर स्वामित्व के त्याग की बात करते हैं। मनुष्य को उतने धन से ही जरूरत रखनी चाहिए, जितने से शरीर-यात्रा ठीक ढंग से पूरी होती रहे। आज जो सामाजिक दुःस्थिति दृष्टिगत होती है, वह धन पर अपना दाँत गड़ाए रखने के कारण ही है। इतना ही नहीं, दूसरों के धन को हड़पने की भी इच्छा बलवती बनी रहती है। इसीलिए गीता का उपदेश है—'अयाचित रूप से प्राप्त लाभ से ही सन्तुष्ट रहना चाहिए।' (4.22)

महात्मा गाँधी ने इन पाँचों व्रतों को महावीर के पाँच व्रतों के आधार पर ही स्वीकार किया। शेष छह व्रत राष्ट्रीय सुख-समृद्धि की दृष्टि को ध्यान में रखकर स्वीकृत किए। गाँधी जी का छठा व्रत 'शरीरश्रम' है। यह इस सिद्धान्त का समर्थक है—'कमाने वाला खाएगा।'

सातवाँ 'आस्वाद' व्रत है। इसका मतलब है, जो भी अन्न भोजन के लिए मिल जाए, उसे स्वादपूर्वक ग्रहण करें। ऐसा नहीं कि 'मीठा-मीठा गप-गप; कड़वा-कड़वा थू-थू।' मनुष्य आम को जिस स्वाद से खाता है, उसी स्वाद से नीम का भी सेवन करे। उन्न को प्राण मानकर खाना चाहिए। सत्यनारायण व्रत-कथा में उल्लेख है—'कलावभागताः प्राणाः।' कलियुग में प्राण अन्नागत है।

आठवाँ व्रत 'सर्वत्र भयवर्जन' है। मनुष्य को सर्वदा और सर्वत्र निर्भय रहना चाहिए। भगवान् का भी प्रतिज्ञा-वाक्य है—'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम्।' सबको निर्भयता प्रदान करना मेरा व्रत है।

आज देश में निर्भयता की स्थिति नहीं है। जनता बुरे तत्त्वों के क्रूर आचार या स्वैराचार से त्रस्त रहती है। बस की यात्रा हो या ट्रेन की। विशेषतः महिलाएँ तो सदा अपने को असुरक्षित महसूस करती हैं। चोरी, छिनतई, स्कूली छात्राओं से छेड़छाड़, गैंगरेप आदि की दुर्घटनाओं से अखबारों के पन्ने रँगे रहते हैं। निर्भयाकाण्ड तो पूरे राष्ट्र के मुँह पर बदनुमा दाग बनकर इतिहास के एक काले अध्याय के रूप में सदा के लिए चस्पा हो गया है। निर्भयता के अभाव के कारण ही यह सारी दुःस्थितियाँ उभरकर सामने आई हैं। इसीलिए, गाँधी जी ने 'सर्वत्र भयवर्जनम्', व्रत का उद्घोष किया है।

गाँधी जी सिर्फ कहते नहीं थे, कर दिखाते थे। नोआखाली में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय अकेला गाँधी अत्याचारियों के बीच चले गए थे। उनका प्रभाव देखिए कि अत्याचारियों ने गाँधी के समक्ष अपने हथियार डाल दिए।

नवाँ व्रत सर्वधर्म समानता है। दुर्ललित युवा नाथूराम गोडसे गाँधी के इस व्रत का मूल्यांकन नहीं कर सका। गाँधी के पार्थिव अस्तित्व को उसने भले ही नष्ट कर दिया, पर गाँधी का सिद्धान्त और भी अतुलित वेग से उद्भावित हो आया। फलतः गाँधी आज भी शाश्वतप्रतिष्ठ और प्रासंगिक हैं। 'हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई सब आपस में भाई-भाई' जैसा नारा गाँधी-सिद्धान्त का ही प्रत्यक्ष विजय-नाद है।

दसवाँ व्रत 'स्वदेशी सिद्धान्त से जुड़ा है। खादी ग्रामोद्योग का विकास-विस्तार इसी व्रत का प्रतिरूप है। विदेशी वस्त्रों के होलिका-दहन की अग्नि ज्वाला गोरी सरकार को झुलसाती हुई काल की अग्निशिखा बनकर इतिहास में प्रतिष्ठित हो गई।

ग्यारहवाँ व्रत 'अस्पृश्यभावना' है। इस व्रत ने आपसी छुआछूत की भावना को मिटाकर राष्ट्र को नया रूप दिया। अस्पृश्य जन हरिजन बन गए। जनता में हरिजन को देखने की नई दृष्टि उत्पन्न हुई।

इस प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो महात्मा गाँधी महावीर से भी आगे निकल गए। गाँधी जी का सर्वतोमुखी व्यक्तित्व विराट् था। उनके इस व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ा। भाषा की समस्या पर उनके विचार बड़े स्पष्ट हैं। शिक्षित वर्ग उनसे, उनके हिन्दी-हितैषी व्यक्तित्व से परिचित हुआ। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। सम्मेलन की ओर से गाँधी के संरक्षण में दक्षिण में हिन्दी का प्रचार हुआ।

गाँधी अपने व्रतनिष्ठ नम्रता से पूरे विश्व में एक महापुरुष के रूप में सर्वप्रतिष्ठ हो गए। यह सब उनके 'स्वदेशी' व्रत का ही प्रभाव है।



## सन्त रैदास आज के सन्दर्भ में

---

जिया लाल आर्य\*

सन्त रैदास का भजन है,  
अब कैसे छूटे राम नाम रट लगी।  
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी,  
जाकी अंग-अंग बास समानी।  
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती,  
जाकी जोति बरै दिन राती।  
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा,  
ऐसी भक्ति करै रैदासा।

इस भजन के प्राण सन्त शिरोमणि रैदास की अमर कीर्ति देश के कोने-कोने में प्रभाषित हो रही है। यह समता, समरसता और एकात्मकता का द्योतक है। यह चन्दन और पानी के मिश्रण की सुवास का अमृत प्रभाव है और दीपक तथा बाती के संयोग से दिवारात्रि को प्रकाशित करने वाली वह ज्योति है जो मानव-समाज को नई राह दिखाएगी। यही राह भारत को पुनः विश्व गुरु के शीर्षोत्कर्ष तक पहुँचाने में मदद करेगी।

सन्त रविदास का आगमन, वाराणसी की पावन धरती पर, इतिहास रचने वाला रहा है। भारत के साहित्यिक इतिहास में 14वीं और 15वीं शताब्दी के कालखंड को मध्ययुग या भक्तिकाल कहा गया है। इसे नवजागरण काल भी कहा गया है, क्योंकि इसी कालखंड में सन्तों और महात्माओं ने मानव की अन्तरात्मा को प्रकाशित किया था, उसे जागृत किया था। यह वह समय था, जब मुस्लिम आक्रमणकारी गजनी, मुहम्मद गोरी और अलाउद्दीन खिलजी का प्रभुत्व बढ़ रहा था। यहाँ के लोगों में

---

\* जिया लाल आर्य, आई.ए.एस. (सेवानिवृत्त) “आर्य निवास,” 23 आई.ए.एस. कॉलोनी, किदवईपुरी, पटना-800001; मो. 09451233621

सुरक्षा एवं आत्म-सम्मान का हास हो रहा था। धर्म एवं संस्कृति का विनाश हो रहा था। ऐसे अन्धकार में आशा ज्योति के रूप में दो घटनाएँ घटी, भारतीय इतिहास में।

अध्यात्म एवं धर्म पुनर्जागरण के लिए श्री रामानुजाचार्य और श्री रामानन्दाचार्य का आगमन हुआ। श्रीमन् रामानुज ने सनातनता को बढ़ाया। श्री रामानन्द ने सनातन रूढ़ियों से हटकर मानव को जोड़ने का काम किया। उन्हीं के शिष्यों में सन्त रैदास, कबीर, धन्ना, सेन, पीपा, रामदेव, सावन्ता, नरहरि, चोखा मेला, जनाबाई आदि हुए। भक्त नामादास की कृति 'भक्त माल' इसका प्रमाण है।

सन्त रविदास ने कहा है :

*'सतगुरु का खोजन चले, मन में मोद मनाए।*

*गुरुवर रामानन्द के, आश्रम पहुँच जाए॥'*

रामानन्द जी ने विधिवत गुरुमंत्र देते हुए कहा था :

*'भक्ति सहित निज उर धरो, रामरूप सुखधाम।*

*निशिवासर अति प्रेम से, जपौ राम का नाम॥'*

यहीं से सात्त्विक आहार, सात्त्विक आचार-विचार, तन्मयता, विश्वास और आत्मसम्मान का उदय हुआ। कबीर ने 'सन्तन में रविदास' कहकर रैदास को सन्तों का शिरोमणि बना दिया। परन्तु वह स्पष्ट है कि वे शिरोमणि हुए अपने सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय चिन्तन से। अध्यात्म तो उनकी आत्मा का शृंगार था।

आज के सन्दर्भ में रैदास समीचीन—आज हमारे देश में जो सामाजिक रूढ़िता, धार्मिक अन्धविश्वास एवं राजनीतिक हेय चिन्तनता है उसमें रैदास की दी हुई दिशा समीचीन लगती है। जाति-पाँति, वर्ण-व्यवस्था, अमीर-गरीब और अन्य सामाजिक मतभिन्नता को दूर करने में कबीर-रैदास अत्यन्त प्रभावकारी होंगे। रैदास ने 'केलन की पात-पात में पात। मानुष में जात-जात में जात' कहकर जाति-बन्धन से निजात पाने की बात कही। कबीर ने कहा—“जात-पात पूछें नहीं कोई। हरि को जैसा हरि कह होई।” इन दोनों ने ही तुलसीदास की इस पंक्ति में निहित विचार का विरोध किया। 'पूजहि विप्र यद्यपि गुण हीना।'

रैदास ने कहा—“रैदास ब्राह्मण मत पूजिये, जउ होवे गुणहीन।

पूजहिं चरण चांडाल के, जऊ होवे गुण प्रवीण॥”

इन्होंने साहसिकता के साथ गीता के 'गुणकर्म विभागशः' को आगे बढ़ाया। गुण और कर्म को महत्त्व दिया। सन्त कबीर ने इसी को आगे बढ़ाते हुए कहा था—

*“जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।”*

सन्त रैदास ने कहा—

‘जन्मजात मत पूछिए, का जात और पात ।’  
रैदास पूत सम प्रभु के, कोई नहि जात कुजात॥  
‘विषाण्यमृतं ग्राहमेध्यादपि कांचनम् ।  
नीचादप्युत्तमा विद्या स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥”

अर्थात् चाणक्य की उपर्युक्त भाव भी इसी का समर्थन करता है। अर्थात् विष से अमृत, अशुद्ध स्थान से सोना, नीच कुल वाले से विद्या और दुष्ट स्वभाव कुल की गुणी स्त्री का ग्रहण करना चाहिए।

वर्णाश्रम पर उन्होंने लोगों को चेताया—

‘वर्णाश्रम अभिमान तजि पदरज वन्दहिं जासु की ।  
सन्देह ग्रन्थि खंडन निपुन, वाणी विमल रैदास की॥’

निष्काम कर्म एवं श्रम का महत्त्व—सन्त रैदास ने श्रम के महत्त्व को लोगों तक पहुँचाया। ‘हन्थन सो कर कार’ इसका प्रमाण है। उन्होंने अपने पैतृक काम को करते हुए चित्तौड़ की रानी झाला रानी और कृष्ण दिवानी मीरा के ‘गुरु’ बने। यह निष्काम कर्तव्य का ही परिणाम है।

दूसरी घटना, जो भारतीय इतिहास का अंग बनी, वह भी इन सन्तों, विशेषकर रैदास की ही देन है। इन्होंने गुलामी को तिरस्कृत किया। पराधीनता को धर्म विरुद्ध बताया। उन्होंने कहा—

‘पराधीन का दीन क्या, पराधीन वेदीन ।  
रैदास पराधीन को, सभी समझै हीन॥’

स्पष्ट है कि स्वाधीनता का बीज रैदास ने 15वीं सदी में ही बो दिया था जो बीसवीं सदी में फलित हुआ।

इतिहास के बच्चों को रटाया जाता है और हमलोग भी मानते हैं कि भारतीय संविधान में ‘समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुता’ फ्रांस की क्रान्ति की देन है, परन्तु रैदास एवं अन्य सन्तों के साहित्य को देखिए तो मानना पड़ेगा कि समता, स्वतन्त्रता एवं बन्धुता इन सन्तों ने, विशेषकर रैदास ने फ्रांस की क्रान्ति के तीन-चार सौ साल पूर्व दे दी थी। उन्होंने कहा था—

‘ऐसा चाहूँ राज मैं जहाँ मिलै सब को अन्न ।  
छोट-बड़ो सब सम वसै, रैदास रहे प्रसन्ना॥’

यह समता पराधीनता से मुक्ति, स्वतन्त्रता, भाईचारा किसकी देन है, निश्चय ही रैदास जैसे सन्तों की। इन पंक्तियों में आत्मनिर्भरता का भी सन्देश है।

सन्त-ईश्वर एकता—सन्तता, मानव की सर्वोच्च प्राप्ति है। सन्तत्व एक स्थिति में ईश्वर के समान हो जाता है। कहते हैं कि गंगा का उद्गम ब्रह्म कमंडलु से हुआ है। गंगा निकलकर कहाँ गई, शंकर की जटा में या रैदास की कठौती में। रैदास की कठौती में गंगा यदि मनचंगा हो तो। रैदास का मन निर्मल था इसलिए उनकी कठौती में गंगा का वास था।

सन्त रैदास को स्मरण करने का उद्देश्य केवल धूप-दीप जलाने, पत्र-पुष्प देने एवं भाषण-प्रवचन करने तक सीमित नहीं होना चाहिए। रैदास के जीवन एवं उनकी वाणी से हमें सीख लेकर मानव-समाज और राष्ट्र के विकास पर ध्यान देना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब हम कुछ ऐसे प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ें।

राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता के लिए समानता, बन्धुता और आपसी विश्वास को व्यावहारिक बनाना होगा। सम्मान, भाई-चारा, बन्धुत्व, विश्वास से समाज जुड़ता है, क्योंकि रविदास का मानना था—‘छोट-बड़ो सब सम वसै, रैदास रहे प्रसन्न।’

रैदास भारतीयता की पहचान हैं। उन्हें किसी जाति या स्थान से जोड़ना उचित नहीं है। रैदास, रविदास, रायदास आदि नामों से ऊपर उठकर एक समाज की पहचान बनानी होगी, विशेषकर दलित या अनुसूचित जाति को। जातियों, उपजातियों को छोड़ सब एक हों। रोजी, रोटी, शादी, ब्याह, रहन-सहन में संकीर्ण विचारों को छोड़कर आगे बढ़ें। सवर्ण इसमें मदद करें और अवर्ण एक हों, तभी भारत 2020 तक विश्व के विकसित राष्ट्रों की पंक्ति में खड़ा हो सकेगा।

संविधान ही हमारा स्मृतिग्रन्थ है। इसका मूल उद्देश्य है समानता, बन्धुता एवं सहभागिता। यह तभी होगा जब सभी शिक्षित हों, सबको आर्थिक स्रोतों में समान हिस्सा मिले। इसीलिए सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ों के लिए आरक्षण की व्यवस्था संविधान में की गई है।

अज्ञान, अशिक्षा, अदूरदर्शिता से देश को उबारने के लिए शिक्षा, संगठन एवं संघर्ष करने की आदत को संविधान के दायरे में लागू करना होगा, इससे ही समता, समानता, बन्धुता का नारा सफल होगा।

इन प्रश्नों पर हम विचार करें सभी सन्त रैदास की यह वाणी सच्ची साबित होगी और उस सन्त को सच्ची श्रद्धांजलि होगी जिसने कहा—

*प्रभुजी तुम मोती हम धागा,  
जैसे सोनहिं मिलत सोहागा।  
प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी॥*

## हिन्दू धर्म में राम

केशीकान्त शकुन\*

सम्भवतः हम इस समय न समझ पा रहे हों; पर सच यही है। राम, राम है। दशरथ का हो या गोविन्द का। इसका हो या उसका। मेरा हो या आपका। तात्पर्य, वह हम सबका है। संकीर्ण विचारों वाले उसे सम्प्रदाय, पन्थ और मजहब जैसे संघटनों में बाँट लेते हैं। ऐसा राम हमारा है और वैसा राम तुम्हारा है। यह राम और है एवम् वह राम और अथवा मेरा राम मेरा है और तेरा राम तेरा। ऐसी कोई बात नहीं है। वह एक ही है जो हम सबका साझा है। सबसे जुड़ा हुआ हम सबका खयाल रखने वाला, वह पालनकर्ता है, नियामक है और न्यायकर्ता शासक भी। अतिरिक्त नाम चाहे जो हो!

दशरथ का राम हिन्दुओं का है तो एक राम उनका है जो हिन्दू नहीं हैं या अपने-आपको हिन्दू नहीं समझते। जिस किसी का उससे बढ़कर सर्वत्र प्रतिष्ठित, सर्वतोभद्र और सर्वज्ञ घट-घट का वासी राम है। उसके लिए तो राम और मनुष्य एक-समान हुए न! राम देवता है, मानव है, मानवेतर और अतिरिक्त भी। वह मर्यादा पुरुषोत्तम है और मर्यादाओं के पार का कृष्ण है।

राम परमात्मा है और उसका प्रतिरूप भी। परब्रह्म है वह। सनातन धर्म अर्थात् हिन्दू धर्म में उस परमात्मा के शक्तिरूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश। उनमें से विष्णु का अवतार राम हुआ। कथित हिन्दू धर्म का एतादृश राम विश्व में व्याप्त है तो फिर समर्थ, चमत्कारी, किसी विशिष्ट या दशरथ का क्यों नहीं हो सकता? इतना अक्षम भी नहीं है कि वह जैसा चाहे वैसा हो न सके।

राम वाल्मीकि का है, तुलसीदास का है, कबीर का है और किस-किस का नहीं है वह? ईश्वर के विग्रह में इतना सक्षम है जितने की उससे अपेक्षा की जाती है, कभी-कभी तो उससे अधिक भी। इतना कि उसकी प्रतिभावना संशयिक लगने लगे। क्या ऐसा वह किसी का हो सकता है? जब उसका होना अपवाद की श्रेणी में न आता हो। इस पर कोई कैसी प्रतिक्रिया कर ले, चाहे आपत्ति उठा ले! फिर तद् रूपातिरिक्त

\* केशीकान्त शकुन, पी-6, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला-147002 (पंजाब)।

उसके स्वामी-सा कुछ होता होगा या कहें कि ऐसे का सृजन किसी दूसरे द्वारा किया गया होगा जिससे उसका लेना-देना न रहा हो? तब वह कैसे उसके अंश में समाता होगा? कैसे कोई उसका होता होगा? उसकी कल्पना मनुष्य की बुद्धि में नहीं बैठती और वह साधारण-से-असाधारण, अज्ञात, सशक्त तथा सर्वेश्वर हो जाता है। ऐसा कुछ भी कर सकता है, कैसा भी हो सकता है और किसी का भी।

हिन्दुओं का राम श्वास-प्रतिश्वास प्रत्येक में निवास करता है। प्रत्येक के संग है, पृथक्-पृथक् समय पर घटना व दुर्घटना में। प्रायः स्वीकार्य, तो भी उसकी कल्पना कठिन-सी बनी रहती है। हिन्दू मतानुसार यह संसार उसकी लीला है या विस्तार जो चाहे कहें, इससे अति गूढ़ और क्या हो सकता है असंख्य आकृतियों में सहस्रों नामों के साथ? अब ऐसा चर्चित सभी का सब कुछ क्यों न होगा? चाहे उसकी पूरी पहचान होती हो या न हो! भिन्न-विभिन्न अवसरों पर अनेक सन्दर्भों में चर्चा उसी की होती है। इस अवस्थिति में वह अपना स्वामी स्वयं हुआ न! आसन्न परिस्थिति उसके सामर्थ्य पर प्रश्न उठाने नहीं देती, पूर्ण स्वतन्त्रता एवम् अधिकार के बावजूद। कोई उसका उपयोग करे या न करे। माने या न माने। लक्षित अंश सम्पूर्ण का प्रतिनिधित्व करता है।

बूँद सागर में मिले अथवा मिल दी जाए तो निराकार, देहातीत, अनाम और कल्पनातीत हो जाती है! चेतना की एतन्निष्पत्ति से निर्देशित चराचर अपनी-अपनी भूमिका में अद्वितीय है। परतः 'परात्पर की अवधारणा' धूमिल नहीं होती। गीता के दसवें अध्याय का सत्ताइसवाँ श्लोकांश है : नराणां च नराधिपम्। इन शब्दों में अपने पन्थ, सम्प्रदाय, मजहब या वर्ग के हिसाब से फेरबदल तो किया जा सकता है। पदेन गुरु, रहबर, रहनुमा या अधिनायक आदि कुछ भी कह लें! निहित वास्तविकता को बाधित नहीं किया जा सकता। 'सूर्य की धूप तेज लगती है। व्यक्ति हाथों की ओट बना लेता है। क्या इस तरह सच्चाई को नकारा जा सकता है?' बाधक ही उसकी दशा और स्थिति को प्राप्त कर लेता है। वहीं विवाद, विरोध, द्वन्द्व, सुनिश्चितता तथा सुरक्षा के विमिश्रित विचारों के साथ सदाशयता निभाते हुए शस्त्रधारियों में राम विभूति है : रामः शस्त्रभृतामहम्। यह श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय के इकतीसवें श्लोक में है। अतः व्यक्ति को अंश और सम्पूर्ण में भेद अस्वाभाविक नहीं लगता। इतना ही नहीं, राम-राम के जवाब में बच्चे का नाम-नाम भी चलेगा! ईश्वर कभी जब चाहे, किसी प्रकार से और किसी रूप में व्यक्त हो सकता है। निरर्थक और अल्पतर शब्दों को दोहराते न रहें!

हिन्दू धर्म रास्ता दिखाने और उस पर ले जाने वाले चालक और परिचालक के विश्रामगृह तक सीमित नहीं है। उससे कहीं आगे निकलकर वह राम के अवतार में वैकुण्ठी ऋत को प्रस्तुत करता है। अन्ततः मनुष्य को स्वयम् आत्मसाक्षात्कार करना होता है! वह सहारा-सा तो लग सकता है और इतने सामान्य की सहायता नहीं

करता। आवश्यकता क्या है? मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का स्थान जिसके अन्तःकरण में है, उसी की आत्मा में है।

जब उपर्युक्त प्रकार की सत्ता मानसिक अथवा शारीरिक या दोनों प्रकार से निर्बल की सहायता करती है कर या सम्बल अल्प, अत्यल्प हो और बिना प्राप्ति के भी। तब उसे रामराज्य या उस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

ऐतिहासिक एवं पौराणिक आधार पर वैवस्वत मनु ने मत्स्य न्याय अर्थात् बड़ी मछली को अधिकार है कि छोटी को निगल जाए जैसे व्यभिचार से जन-साधारण को मुक्ति दिलाई और सुव्यवस्था स्थापित की। तदनुरूप प्रशासकीय कार्यों में से राज्य का उदय हुआ। मनु के आठ पुत्र और इला नामक एक पुत्री थी। यथासमय राज्य को इनमें बाँट दिया। इक्ष्वाकु उसका बड़ा पुत्र था। मध्यदेश का अधिकार उसको मिला और उसने अयोध्या नगरी को अपनी राजधानी बनाया। राम उसी का वंशज था। इसी इक्ष्वाकु का वंश इतिहास में सूर्यवंशी कहलाता है। दिलीप, रघु, दशरथ और राम इत्यादि इस वंश के प्रतापी राजा थे। राम का राजा रामचन्द्र कहकर स्तवन किया जाता है।

राम कथा लोग आज भी कहते तथा सुनते हैं। उसके महत्त्व को समझते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने उसे चौबीस हजार श्लोकों में लिखा और प्रथम कवि कहलाए। तुलसीदास कृत रामचरितमानस घर-घर पहुँच गया। केशव की राम-चन्द्रिका के अतिरिक्त लगभग अड़सठ और कवियों ने भक्ति-काल में उक्त कथानक को लेकर लिखा। कम्बन की ही तमिल रामायण के गुरुत्व, महिमा एवम् अनिवार्यता पर चर्चा पृथक् से अपेक्षित है।

कहते हैं, राम झोली-भर कर देता और मुड़ी-भर लेता था तो भी कृषक खुश नहीं था। इससे एक बात तो स्पष्ट होती है। उसके शासन में करों का बोझ नाम मात्र था और न अनावश्यक कानूनी पाबन्दियाँ थीं। जिनमें से किन्हीं के नीचे दबकर व्यक्ति अपनी पहचान और स्वतन्त्रता खो देता है। प्रजा सम्पन्न हो न हो सन्तुष्ट, सुखी और सुरक्षित थी। प्रजा और राजा में दूरी नहीं थी या न के बराबर थी। ऐसा तो हो नहीं सकता। इसलिए रामराज्य की परिकल्पना का विरोध किया जाता है विशेषकर अधिनायकवादियों द्वारा। आदर्श भी रामायण के पात्र ऐसे प्रस्तुत करते हैं। कौन मान सकता है कि राम जैसा पितृभक्त पुत्र हुआ होगा और सीता जैसी पतिव्रता? दायित्व-बोध, संवेदना तथा कार्यान्वयन भी सीता को असाधारण बनाता है। गुप्तचरों द्वारा जब बताया गया कि आँधी-तूफान व वर्षा आदि से अकस्मात् विकट बन गए पर्यावरण के कारण रास्ते के गाँव में रात बिताकर मायके से ससुराल पहुँची पत्नी को धोबी यह कहकर निकाल देता है कि वह राम जितना महान् नहीं है। सीता तो महारानी है, वह स्वयं परिवार एवं कुल के सम्मान हेतु गृहत्याग कर वन में चली जाती है कितना समझाने और मनाने के बावजूद। उस अवस्था में जब स्त्री को परिजनों की

सर्वाधिक आवश्यकता होती है। दूसरी ओर लक्ष्मण तथा भरत जैसे समर्पित भाई हैं। पहला भाई रात-दिन सेवा में रहा और दूसरा बड़े भाई की चरण-पादुकाओं के सहारे उसका राज्य चलाता रहा। हनुमान जैसे सेवक के कृत्यों को भुलाया नहीं जा सकता। किसी के न मानने से इतिहास बदल नहीं जाएगा। भारत ही नहीं, विश्व का इतिहास तादृशी शिक्षा तथा आदर्शों तक पहुँचाने वाले वेदों से आरम्भ होता है। यह जानने के कितने साधन उपलब्ध हैं, इसके बावजूद हम चाहें तो मनुष्य को स्त्री हो या पुरुष गुमराह बनाए रख सकते हैं।

इक्ष्वाकु वंश की बीसवीं पीढ़ी में राम का पूर्वज मान्धाता अनेक प्रदेश जीतकर चक्रवर्ती सम्राट् कहलाया। श्री सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार पौराणिक अनुश्रुति में कहा गया है : सूर्य यहाँ से निकलता है और यहाँ अस्त होता है वहाँ तक सारा क्षेत्र मान्धाता के शासन में था। पौरव, आनव, दुह्यु तथा हैहय शक्तिशाली प्रदेश उसके राज्य में सम्मिलित थे। राम ने श्रीलंका सहित समस्त दक्षिण को राक्षसी गतिविधियों और प्रवृत्तियों से मुक्त करवा लिया था। उस समय खग, नाग, वानर तथा ऋक्ष आदि वनवासी जातियाँ सभ्य और सुसंस्कृत होने जा रही थीं। उन्होंने राम को सहयोग दिया। जटायु, सम्पाति, नल-नील, सुग्रीव, हनुमान और जाम्बवान् इत्यादि उन्हीं के प्रतिनिधि एवं प्रतीक हैं। निर्वासित सुग्रीव का बड़ा भाई किष्किन्धा नरेश बाली राक्षसराज महाबली रावण को कभी पर्याप्त समय तक अपनी बगल में दबाए रखकर सामर्थ्य का परिचय दे चुका था। जब तक उसने क्षमायाचना नहीं कर ली। द्वन्द्व-युद्ध में बाली का सामना कोई नहीं कर सकता था। ब्रह्मा के वरदान-स्वरूप वह किसी का भी आधा बल खींच लेता। उसके आगे असहाय सुग्रीव की राम ने रक्षा की। वृक्षों की ओट ले कर बाली का वध कर दिया। इस प्रकार छोटे भाई को उसका अधिकार मिल गया, राज्य मिला और उसकी पत्नी रोमा को अत्याचारी से मुक्ति। आखिर जंगल-राज का अन्त उसके नियमों में ही छुपा रहता है।

मान्धाता के पुत्र पुरुकुत्स से ग्यारह पीढ़ी पश्चात् सत्यवादी हरिश्चन्द्र हुआ। अयोध्या के इसी इक्ष्वाकु कुल की इकतालीसवीं पीढ़ी में सगर हुआ और पैंतालीसवीं में भगीरथ जिसे गंगा के अवतरण निमित्त स्मरण किया जाता है। राम के ऐतिहासिक तथा पौराणिक महत्त्व का आधार कुल-परम्परा है जो मनुष्य और उसकी सद्वृत्तियों को संरक्षण प्रदान करती है। पिता के वचन निभाने हेतु विमाता कैकेयी द्वारा दिया चौदह वर्षों का वनवास और भरत को राज्य शिरोधार्य है : रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहुँ बरु बचनु न जाई।

इक्ष्वाकु वंश की साठवीं पीढ़ी में दिलीप स्मरणीय रहा और उसके बाद उससे भी बढ़कर उसका पौत्र रघुवीर एवं पराक्रमी प्रसिद्ध हुआ। उसकी दिग्विजय का वर्णन महाकवि कालिदास ने महाकाव्य “रघुवंशम्” में किया है। रघु इतना जनप्रिय हुआ कि उसके नाम पर इक्ष्वाकु वंश रघुवंश कहलाने लगा। रघु का पुत्र अज, अज का दशरथ



और दशरथ का राम हुआ। सत्यकेतु विद्यालंकार के कथनानुसार रामचन्द्र का जन्म पैंसठवीं पीढ़ी का माना जाता है।

राम कथा को लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन विश्व साहित्य में इतने ग्रन्थ लिखे गए हैं। उतना महाभारत के अतिरिक्त शायद किसी कथा को लिखा गया हो। आज भी लिखा और प्रदर्शित किया जा रहा है। पहली बार जब चलचित्र-निर्माता रामानन्द सागर ने रामायण पर धारावाहिक तैयार किया। उसे देखने टेलीविजन वाले घरों में गए आबालवृद्ध के बिना गलियाँ और बाजार सूने हो जाते थे—प्रातः नौ से दस बजे तक। दुकानदार दुकानें खुली छोड़ देते। कहीं चोरी-चिकारी की घटना भी नहीं घटी। कभी विशेषकर शाम को खेल में बच्चे श्रीराम के जयघोष सहित छल्लों लगाते, छोटी-मोटी और कभी काल्पनिक दीवारें कूद जाते। ऐसा ही हाल बी.आर. चोपड़ा के धारावाहिक महाभारत के प्रदर्शन-प्रसारण के समय हुआ। पात्रों के अभिनय पर विचार करते हुए संयोगवश दो-चार इकट्ठे लोगों के बीच राही मासूम रजा के संवादों की चर्चा होने लगती। तुलना में और कोई है नहीं जिससे रामकथा की लोकप्रियता का कारण जाना जा सके।

राम से बड़ा है राम का नाम। जिस-जिस पर लिख दिया वे पत्थर तैर गए समुद्र में और सेतु बन गया रामेश्वरम्, भारत और श्रीलंका के मध्य।

रावण तीनों लोकों का स्वामी है। ये लोक उसने अपने बाहुबल से जीते हैं। सोने की लंका में रहता है। राक्षसी धर्म और संस्कृति को ऋषि-मुनियों के रक्त से सींचता है। इतना शक्ति सम्पन्न है जो चाहे कर सकता है। बुद्धिमान है, विद्वान है। ग्रह-नक्षत्र उसके अधीन हैं और अमृतकुंड उसकी नाभि में। सीता का अपहरण उसके सर्वनाश का कारण बनता है। यहाँ जैसे रामचन्द्र को धनुष-बाण उठाना पड़ता है वैसे किसी अन्य प्रकरण में लग सकता है कोई और; पर होगा वह राम ही।

अनाचार कैसा भी हो, किसी रूप में हो असमर्थ के विरुद्ध आघातक है। जो ऐसी समस्याएँ उत्पन्न करते हैं उन्हें स्वयं को सही सिद्ध करने की महारत हासिल होती है। उन्हें और उनके समर्थकों को समझाया नहीं जा सकता। उन्हें समाप्त करना होता है! जब तक वे रहेंगे, प्रत्येक घटना के बाद जश्न मनाएँगे और अखबार उनका आँखों देखा हाल पढ़ाएँगे। कभी तो उनका विनाश होगा और होता है, कैसे भी हो, किसी के द्वारा हो! हिन्दू धर्म में यह विश्वास निराकार राम है, श्रीराम, मर्यादा पुरुषोत्तम राम।

## मूल्य : बहुकोणीय विवेचन

प्रदीप जुगरान\*

‘मूल्य’ शब्द का वर्तमान आधार अत्यधिक विस्तृत है, अर्थशास्त्र की भाषा में आम जन किसी वस्तु की मुद्रात्मक विशिष्टता के बारे में मूल्य द्वारा जानता है। तथापि ‘साहित्य में मूल्य’, ‘जीवन के मूल्य’ आदि ऐसी संकल्पनाएँ हैं, जो गम्भीर विवेचनाओं को अपने में समाहित किए हैं। ‘मूल्य’ शब्द मूल+यत् प्रत्यय के समाहार से बना है। मूल्य वह है, जो किसी वस्तु का मूल है, जिससे उस वस्तु की उत्कृष्टता प्रकट होती है। तब हम उस वस्तु को मूल्यवान (Valuable) कहते हैं। वस्तुतः अर्थशास्त्र विषय से मूल्य शब्द का सम्बन्ध मानना उचित रहेगा। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साहित्य के अन्तर्गत एक विशाल अर्थ को स्वयं में समाहित किए यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रचलित हो रहा है।

‘मूल्य’ शब्द की निम्न व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। मूलेन आनाभ्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः, मूलमहीत समो मूल्यम्।<sup>1</sup> अर्थात् मूल के समान मूल्य है, और वस्तु की विशिष्टता को प्रकट करने वाला तत्त्व ही मूल्य है। अंग्रेजी के Value शब्द के समतुल्य ‘मूल्य’ शब्द प्रयुक्त होता है। Value शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Valere से हुई है, जिसका अर्थ होता है—अच्छा, सुन्दर। भारतीय परिप्रेक्ष्य में ‘मूल्य’ को मूल, सुन्दर उद्भावनाएँ तथा कल्याणकारी रूप में जाना जाता है। यद्यपि भिन्न-भिन्न देशकाल परिस्थितियों में इन मूल्यों में अन्तर आ जाता है, तथा इन्हें हम परिवर्तनशील भी मान सकते हैं। ‘मानवमूल्य’ या ‘जीवनमूल्य’ नाम से मानव या जीवन की विशेषताओं को प्रकट करने में ‘मूल्य’ समर्थ है। Value शब्द को ग्रीक में ‘ऐक्सियोज’, फ्रांसीसी में ‘वैलोर’ तथा जर्मन में ‘वैट’ नाम से जाना जाता है।

हिन्दी साहित्यकोश के अनुसार ‘मूल्य’ और ‘प्रतिमान’ समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानव-निर्मित निकष या कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्य की परख की जाती

हिन्दी विभाग, हे.न.व.ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर गढ़वाल,

Email-pradeep.sharma87pj@gmail.com, Mob.9456580462, 7467841201

है। मनुष्य चूँकि पहले व्यक्ति हैं, इकाई हैं—इसके अपने कुछ मूल्य होते हैं। परन्तु व्यक्ति मनुष्य एक वृहत्तर मानव समाज का, परिवार, नगर, प्रदेश, प्रान्त, राष्ट्र या संसार का सदस्य, नागरिक, सामाजिक विशेष होकर सामान्य अंग भी है। अतः उसके विचार, कर्म और कल्पना में मूल्य का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।<sup>2</sup>

मूल्य की व्यापकता में ऐसे सिद्धान्त, जिनमें समाज की विशेष आस्था हो, मूल्य कहलाते हैं। अन्य अर्थ में किसी वस्तु समाज अथवा सिद्धान्त के प्रति आदर व्यक्त करना ही उसे मूल्य प्रदान करना होता है। 'वस्तुतः जो कुछ भी इच्छित है, वांछित है, वही मूल्य है।'<sup>3</sup> जो जीवन को अस्तित्व और गति प्रदान करे, वही मूल्य है।<sup>4</sup> 'नालन्दा विशाल शब्दसागर' में मूल्य को दो अर्थ में व्यक्त किया गया है। प्रथम किसी वस्तु को खरीदने पर उसके बदले में दिया जाने वाला धन, दाम, कीमत या प्राइस है। द्वितीय वह गुण या तत्त्व जिसके कारण किसी वस्तु का महत्त्व या मान होता है।<sup>5</sup>

सामान्यतया हम मूल्य शब्द दैनिक जीवन में विज्ञान, साहित्य, गणित, दर्शन, नीति के सम्बन्ध में सुनते रहते हैं, तथापि जीवन या मानव के साथ जुड़ने पर यह मूल्य 'जीवन मूल्य' या 'मानव-मूल्य' के रूप में अपने विराट स्वरूप को प्राप्त करता है, और प्रारम्भ होती है सुधीजनों की अपने विषयोचित भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ। इसे हम मूल्य का स्वरूप मान सकते हैं, जो विभिन्न रूप में मनुष्य के जन्म-मृत्यु तक के उचितानुचित भेद को प्रदर्शित करने का कार्य करती है।

“मनुष्य और जीवन के परिप्रेक्ष्य में 'मूल्य' शब्द वास्तव में एक धारणा है, जो मानव और उसके जीवन से सम्बन्धित है। मूल्य मानवीय सुख-कल्याण भावना का आधार लेकर चलने वाला परम-शक्तिशाली अमोघ प्रेरक है। मूल्य पदार्थ की योग्यता से सम्बन्धित अमूर्त सत्ता है। मूल्य, मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर उसका उन्नयन करने वाली विवेक-क्षमता है, चेतना है। मूल्य मानवता की कसौटी है। मूल्य, जीवन-मूल्यों को दिशा-निर्देश प्रदान करते हैं। लक्ष्य तक पहुँचने के सोपान हैं।”<sup>6</sup>

मूल्यों का सम्बन्ध समाज, संस्कृति, जीवन, परिवेश, आदर्श, अध्यात्म के साथ वर्तमान वैज्ञानिकता के विभिन्न क्षेत्रों से सह-सम्बन्धित है। किसी भी क्षेत्र में आदर्श की स्थापना मूल्यों के अन्तर्गत ही आती है। इन्हें हम नैतिकता, सिद्धान्त अथवा अनुशासन के रूप में भी मान सकते हैं। डॉ. धर्मवीर भारती कहते हैं—“मूल्य, अन्ततोगत्वा मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में ही पनपते हैं और उनका विकास व्यक्ति के समूह या समाज की ओर होता है।”<sup>7</sup>

वस्तुतः मूल्य बाहर से आरोपित कोई वस्तु नहीं है, ये जीवन के सन्दर्भ में विकसित, पल्लवित तथा परिवर्तित होते हैं। 'जाकी रही भावना जैसी' की उद्भावना अपनी मान्यता तथा दृष्टि के अनुरूप हमें तत्त्वसम्बन्धी मूल्यों की प्राप्ति हेतु प्रेरित करती है। “बगैर मूल्य के मनुष्य, व्यक्ति या समष्टि, किसी भी रूप में एक पल भी नहीं रह सकता। मूल्य का सम्बन्ध निर्णय से है और इसकी जरूरत पग-पग पर पड़ती

है। निर्णय छोटा हो या बड़ा, जान-बूझकर किया जाय या अनजाने में, वह किसी मूल्य का आधार लेकर ही किया जाता है।<sup>8</sup>

मनोविज्ञान के आधार पर मूल्यों का निर्धारक मनुष्य को माना गया है। हो भी क्यों न, जीवन जब हमें स्वयं जीना है तो उचितानुचित का निर्धारण करने का हक हम किसी सत्ता, धर्म अथवा राज्य को क्यों दें? हम स्वयं निर्धारण करें। मनोविज्ञान का यह पहलू अत्यधिक प्रचलित हो रहा है। स्थान, कालादि के भेद से मूल्य सर्वत्र एक समान नहीं हो सकते तो सर्वत्र एक चाबुक से सभी को फटकारना उचित नहीं माना जा सकता है। 'वर्तमान सन्दर्भ में अब यह समझा जाने लगा है कि मनुष्य कर्ता-धर्ता स्वयं है। अर्थों और मूल्यों का निर्णायक भी वही है।'<sup>9</sup> 'उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य वरान्निबोधयतु।'<sup>10</sup> उठो! जागो और रुको नहीं, जब तक जीवन लक्ष्य तक न पहुँच जाओ। यह जीवन का वह सार्वभौम सन्देश है, जिसे उपनिषद् के युग से तत्त्वज्ञानी महामानव देते आए हैं। इस महामन्त्र को स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा लोकप्रसिद्धि प्राप्त हुई। लक्ष्य की ओर अग्रसर रहना प्रसिद्ध मूल्य है। वहीं 'किसी वस्तु की मानवीय इच्छा को तृप्त करने की विश्वसनीय क्षमता मूल्य कहलाती है।'<sup>11</sup>

समाजविज्ञान के सन्दर्भ में समाज की एक विश्लेषणपरक व्याख्या की गई है। वास्तव में मूल्य ही एक आदर्श तथा लक्ष्य होते हैं, जिनको ग्रहण करने के लिए समाज को प्रेरित किया जाता है। मूल्य वस्तुतः 'सामाजिक घटनाओं, व्यवहार इत्यादि के सन्दर्भ में यह निर्धारित करने के मापदण्ड हैं कि उनमें क्या कुछ उचित-अनुचित, उत्कृष्ट-निकृष्ट, वांछनीय-अवांछनीय इत्यादि है।'<sup>12</sup> समाज के सन्दर्भ में देशभक्ति, अहिंसा, स्वतन्त्रता, दया, न्याय, आचार, परोपकार आदि आदर्श मूल्य माने जाते हैं। वहीं मानविकी के सन्दर्भ में प्रत्येक मूल्य जीवन के किसी विशेष क्षेत्र या पहलू से सम्बन्धित है। किसी कार्य, तथ्य या सत्ता के विषय में हम कह सकते हैं कि उसका नैतिक मूल्य क्या है; कलात्मक मूल्य, आर्थिक मूल्य या सामाजिक मूल्य क्या है? लेकिन केवल यह कहना कि वस्तु में मूल्य है, कोई अर्थ व्यक्त नहीं करता है।<sup>13</sup> अतः जीवन विविध पक्षों से सम्बन्धित होते हैं और मूल्य जीवन के इन्हीं पक्षों से जुड़ा होता है। मानवता के लिए व्यक्ति स्वयं के साथ समाज-हित हेतु प्रेरित रहे, यह मूल्यों का उद्देश्य है। मूल्यों द्वारा व्यक्ति सहित समाज का व्यवहार निर्देशित होता है। "मूल्य के परिप्रेक्ष्य में इन शब्दों के अतिरिक्त गुण, उच्चादर्श, उत्तम, उपयोगिता, लक्ष्य, कर्तव्य, मानदण्ड, आचार संहिता (जीवन-मूल्यों की), मर्यादा, विश्वास, आख्या, प्रतिमान, निष्ठा आदि शब्द भी व्यवहृत होते देखे जा सकते हैं।"<sup>14</sup> 'वे व्यक्ति मूल्य ही प्रधान हैं जो समाज-मूल्य के विरोधी न होकर उनके पोषक हों। वे ही सच्चे मानवीय मूल्य हैं।'<sup>15</sup>

वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रत्येक वस्तु को तार्किकता की कसौटी पर खरा उतरना अनिवार्य माना गया है। उसके सत्यापन के लिए तथ्यों, नियमों की विवेचना

आवश्यक जान पड़ती है, और हो भी क्यों न? जब तक किसी मत, सिद्धान्त पर प्रश्नवाचक चिह्न लगे, उसे सत्यापित करने हेतु अपेक्षाकृत तीव्र प्रयास तभी प्रारम्भ होते हैं। अर्थशास्त्र में दाम, कीमत के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने वाला 'मूल्य' शब्द बौद्धिकों के समाज में एक उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो गया है। नीतिशास्त्र हो अथवा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, गणित, दर्शनशास्त्र सभी में विद्वानों ने 'मूल्य' की सत्ता स्वीकार की है। तभी तो किसी विद्वान के शब्द मूल्यवान हो जाते हैं, उनके जीवन-दर्शन, जीवन-मूल्य को जानने के लिए आमोखास सभी तत्पर रहते हैं। स्वरूप से अभिप्राय ही उस विराट् कार्यक्षेत्र से है, जिसमें मूल्य का दखल है। मूल्य को मूल्यवान बनने की इसी विकसनशील प्रक्रिया को हम जीवन-मूल्य, मानव-मूल्य, मूल्य आदि नाम से जानते हैं।

### सन्दर्भ-सूची

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा में काव्य मूल्य, डॉ. रामजी तिवारी, पृष्ठ-14
2. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1), प्रधान सम्पादक—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ - 659
3. The social structure of values, Dr. Radhakamal Mukerjee, p. 21
4. Encyclopaedia Britannica, Vol. 22, p. 9624
5. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ-1118
6. जीवन-मूल्य विमर्श, डॉ. हरीश सेठी, पृष्ठ-6
7. मानव-मूल्य और साहित्य, डॉ. धर्मवीर भारती, पृष्ठ-50
8. साहित्य का मूल्यांकन, प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, पृष्ठ-94
9. साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, डॉ. देवराज उपाध्याय, पृष्ठ-179
10. कठोपनिषद् 1/3/14
11. Dictionary of Sociology, B. Bhushan, p.-331
12. समाज विज्ञान कोश, डॉ. ओम प्रकाश गाबा, पृष्ठ-311
13. मानविकी परिभाषा कोश (दर्शन खण्ड) सम्पादक—डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ-186
14. जीवन-मूल्य विमर्श, डॉ. हरीश सेठी, पृष्ठ-12
15. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1) प्रधान सम्पादक—डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ-659

## पण्डित विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध 'छितवन की छाँह' में लोक-संस्कृति का सौन्दर्य

शिवनारायण\*

ललित निबन्ध का प्रसंग आते ही मेरे सामने पद्मभूषण पण्डित विद्यानिवास मिश्र की निर्मल छवि उभर आती है। क्या दिव्य व्यक्तित्व की आभा थी उनमें! बोलते तो उनकी जुबान से पूरबी की संस्कृति झरने लगती और लिखते तो जैसे उनके अथाह ज्ञान का सोता देसी संस्कृति में घुल-मिलकर असंख्य प्राणियों के तप्त हृदय को सन्तृप्त कर देता! पहली बार उनसे वर्ष 1988 में अपने गुरु आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के सौजन्य से पटना स्थित उनके ही निवास पर मिला था। घण्टों उनके साथ रहने का अवसर मिला। उनकी बोली-बानी, आचार-व्यवहार की छाप अब तक मेरे मानस पर अंकित है। दूसरी बार, जब वे 'नव भारत टाइम्स' के प्रधान सम्पादक होकर दिल्ली रहने लगे, तब उनके दफ्तर में ही मिला था। तब कुछ पल का ही उनका साहचर्य मिला, लेकिन उनकी आत्मीयता आज तक मुझे भिगोती है। पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी से कभी मिला नहीं, केवल उन्हें जी भर पढ़ा भर है; लेकिन प्रो. नामवर सिंह, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी आदि के लेखन से उनकी जो छवि मेरे मानस में अंकित हुई, उसे पण्डित विद्यानिवास मिश्र में ही मूर्त रूप में देखता आया। बोली, भाषा, व्यवहार, वेशभूषा आदि हर रूप में जैसे वे द्विवेदी जी के ही प्रतिरूप थे; ललित निबन्ध लेखन में तो वे वैसे थे ही! आखिर थे तो वे दोनों ही पुरबिया ही न! वहाँ की लोक-संस्कृति में रचे-सने! अब पूरबी संस्कृति को जानने-समझने की उत्कंठा हो, तो उनके ललित निबन्धों का रस तो ग्रहण करना ही पड़ेगा!

\* संपर्क : 305, अमन अपार्टमेंट, शान्ति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना-800 026;  
मो. 09334333509

ललित निबन्ध के लेखन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनके निबन्धों में पाण्डित्य, धर्म, दर्शन, इतिहास, पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान आदि से लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण तक की प्रधानता है। कहना चाहिए कि उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व और सर्जक मन का संगम ही ललित निबन्ध है। आगे चलकर उनकी इसी परम्परा को समृद्ध करते हुए पण्डित विद्यानिवास मिश्र ललित निबन्धकार रूप में प्रतिष्ठित हुए। यों भी उनका सम्मोहक व्यक्तित्व कवि, आलोचक, अनुवादक, सम्पादक, भाषाविज्ञानी आदि से समन्वित है। वे वेद, पुराण, उपनिषद्, शास्त्र, धर्म के साथ-साथ लोक-जीवन, लोक-संस्कृति तथा लोकशास्त्र के भी अद्भुत ज्ञाता रहे। संस्कृत, पालि, प्राकृत, फ्रेंच, अँग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं पर तो उनका अधिकार विलक्षण रूप में रहा। केवल ललित निबन्ध की ही बात करें तो 'छितवन की छाँह', 'तमाल के झरोखे से', 'गाँव का मन', 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है', 'वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं', 'परम्परा बन्धन नहीं', 'शेफाली झर रही है', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी', 'बंजारा मन' जैसी अनगिनत पुस्तकें उन्होंने हिन्दी जगत को दीं, जिनसे गुजरकर भारतीय ज्ञान, संस्कृति और उसकी आत्मा को समझा जा सकता है। उनके निबन्धों में विचार या घटना विशेष की विविध सन्दर्भों में रम्य प्रस्तुति, प्राकृतिक सौन्दर्य की छवियों का अंकन, अवधी प्रभावित भोजपुरी बोली-बानी के उद्धरण की प्रस्तुति से पाठकों में आत्मीयता का भाव उत्पन्न करना आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जो मन-प्राणों को मोह लेती हैं। अपने पाण्डित्य का उपयोग तो वे विषय को साफ एवं प्रामाणिक करने के निमित्त ही करते हैं।

मेरे सामने उनकी पुस्तक 'छितवन की छाँह' है, जिसके ललित निबन्धों के व्याज से उनकी निबन्ध कला के वैशिष्ट्य पर चर्चा होगी, किन्तु उसके पूर्व ललित निबन्ध की तात्त्विकियों पर थोड़ी-सी चर्चा अपेक्षित होगी। अन्य आधुनिक विधाओं की तरह हिन्दी में ललित निबन्ध का सूत्रपात भी भारतेन्दु काल से ही आरम्भ माना जाता है। तब बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बाल मुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्ण सिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि ने ललित निबन्ध की भावात्मक कला को विकसित किया। विद्वानों का मानना है कि ललित निबन्ध निजता और सामूहिकता के मन्थन से निकले चिन्तन एवं लालित्य की ऐसी रम्य रचना है, जिसमें व्यक्ति की अन्तश्चेतना से लेकर सांस्कृतिक परिदृश्य तक के विस्तार को प्रभावित करने का कलात्मक सौष्ठव है। स्वयं पण्डित विद्यानिवास मिश्र ने इस विधा पर विचार करते हुए एक जगह लिखा है कि 'ललित निबन्ध में मोहकता—स्मृतियों के ताने-बाने से उतनी नहीं आती, जितनी आती है शब्दों की चित्रमयता से और भावों की सरसता से, आरोही-अवरोही सरसता से; जबकि व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में स्मृतियों का ताना-बाना विशेष मतलब रखता है, और ये स्मृतियाँ अपनी होते हुए भी दूसरों में घुली हुई अपनेपन की होती हैं। व्यक्तिव्यंजक निबन्ध में भाव विचारमय होने के लिए प्रस्तुत

होते हैं, जबकि शब्द आत्मीय संवाद स्थापित करने के लिए।' आगे वे लिखते हैं कि ललित निबन्ध लिखने के लिए मुक्त निबन्धक फक्कड़पन होना आवश्यक है। निस्संग फक्कड़पन के साथ-साथ आस-पास के जीवन में गहरी सम्पृक्ति होनी आवश्यक है। पण्डित जी के ललित निबन्ध विषयक इन विचारों के आलोक में इस विधा के प्रमुख तत्त्व होंगे—लालित्य, विषय-विस्तार, रागात्मकता, स्वच्छन्दता, सांस्कृतिकता, वैयक्तिकता, ललित शैली आदि।

'छितवन की छाँह' में सत्रह निबन्ध हैं—'छितवन की छाँह', 'हरसिंगार', 'गऊचोरी', 'साँझ भई', 'वसन्त न आवै', 'जमुना के तीरे-तीरे', 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'साँची कहीं ब्रजराज तुम्हें रतिराज किधौ रितुराज कियौ है', 'प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी', 'धनवा पियर भइलें मनवा पियर भइलें', 'सखा धर्ममय अस रथ जाके', 'दीया टिमटिमा रहा है', 'ताण्डवं देवि भूयादभीष्ट्यै च नः', 'टिकोरा 'होरहा', 'आहो आहो संझा गोंसाईनि' और 'घने नीम तरु तले'। इन निबन्धों में अधिकांशतः भावात्मक हैं, जिनमें ग्रामीण चेतना और उनकी संस्कृति के दर्शन सहज रूप में हो जाते हैं और शैली में भी एक प्रकार की आत्मीयता उत्पन्न हो जाती है। पण्डित विद्यानिवास मिश्र के इसी प्रकार के निबन्धों में पाण्डित्य और सहजता के अनूठे मेल को लक्षित करते हुए स.ही.वा. अज्ञेय ने टिप्पणी की है कि 'सर्जनात्मक गद्य के रचयिताओं में विद्यानिवास मिश्र अग्रगण्य हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य को मथकर उसका नवनीत चखा है और लोकवाणी की गोरण गन्ध से वे सदा स्फूर्ति भी पाते रहे हैं। ललित निबन्ध वे लिखते हैं तो लालित्य के किसी मोह से नहीं; इसलिए कि गहरी, तीखी, आमन्त्रण या चुनौती भरी बातें भी वे एक बेलाग और निर्द्वेष नहीं बल्कि कौतुक भरी सहजता से कह जाते हैं।' हालाँकि अज्ञेय की यह टिप्पणी पण्डित जी की निबन्ध-पुस्तक 'मेरे राम का मुकुट भींग रहा है' के फ्लैप पर उस संकलन के निबन्धों के सन्दर्भ में है, किन्तु टिप्पणी का विस्तार उनके तमाम निबन्धों के भाव-सम्बन्ध में देखा जा सकता है।

'छितवन की छाँह' का पहला ही निबन्ध ग्रन्थ-शीर्षक पर है, जिसमें अत्यन्त भावपूर्ण शैली में छितवन को प्रकृति, उसके गुण-दोष तथा प्रभाव की चर्चा की गई है। लेखक अपने छात्र जीवन से चौथेपन की अवस्था तक छितवन से भावात्मक रूप में जुड़ा रहा। बावजूद इसके कि 'लोक में छितवन के बारे में प्रसिद्ध है कि इसकी छाया में जाते ही आदमी के सब पुण्य खत्म हो जाते हैं, इसलिए इसे कोई लगाता नहीं', लेखक छितवन की मादकता के प्रभाव में आसक्त रहता है। बतौर लेखक 'यह छितवन साक्षी है मेरी प्रीति का, मेरी प्रीति के प्रथम उत्सर्ग का और उसकी प्रथम प्राप्ति का। मेरे कुसुमित यौवन के दूसरे मोड़ पर का यह साक्षी, अब तक न जाने कितने प्रणय-कलहों के तपन के बीच, न जाने कितनी विकृत जीवन की दुर्गन्धियों के



बीच और न जाने कितनी विरसताओं के बीच स्नेह की समरसता का सम्बल देता रहता है। तब से न जाने कितनी बार दीए में स्नेह भरा गया होगा, पर जीवनदीप की अखण्ड ज्योति की प्रेरणा मुझे मिली है, इस दूसरे छितवन की छाया से।' ग्राम्य गन्ध में पगा लेखक का जीवन चाहे महानगरों की उन्नत सुख-सुविधाओं में विकसित होता रहा हो, लेकिन उनके मन-प्राणों की ऊर्जा ग्राम्य-संस्कृतियों से ही मिलती रही है; इसलिए वर्जनाओं अथवा नकारात्मक मान्यताओं के बावजूद वे हर उन चीजों का साहचर्य पाना चाहते हैं, जिनसे उनके छुटपन की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। छितवन भी उनकी स्मृतियों में बास करता है। बचपन से ही वे उनसे जुड़े रहे हैं। वे मुक्त मन कहते हैं कि 'छितवन की छाँह हमें मिलती है मधुमास की नई सन्ध्या में और वह फिर मिलती है कुआर की उमसी दोपहरी में। वह यौवन के चढ़ाव और उतार का मापदण्ड है।' इसी 'मापदण्ड' की स्मृति-गन्ध से लेखक रस विमृग्ध होता रहा है। उनकी एकान्त मान्यता है कि छितवन का आनन्द वही ले सकता है जो उसकी प्रकृति से प्रेम करता है। जो छितवन की प्रकृति से प्रेम नहीं करता, उसके लिए तो वह मरघट का पेड़ है। इसलिए वे साफ-साफ कहते हैं कि '...रही बात घर-घर घाट-घाट छितवन के पेड़ लगाने की, उसकी सलाह न दूँगा, क्योंकि सबका मन एक-सा नहीं होता और सब अपने जीवन के साथ इतना बड़ा जुआ खेलने को तैयार नहीं मिलते। जहाँ मरघट होगा, वहाँ छितवन का पेड़ मिलेगा ही, चिता की चिरायन्ध गन्ध का प्रतिकार देने के लिए और मरघट न होगा तो मनुष्य सियार और कुत्ता बन जाएगा। छितवन के लिए किसी वन महोत्सव की अपेक्षा नहीं, वह मरघट का शृंगार है। वह मिट्टी के शरीर का उत्कर्ष है और शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर उसका एकमात्र अवशेष! जाहिर है कि ऐसे छितवन की छाँह में सुख-सुकून उसी को मिल सकता है, जो उसकी प्रकृति से प्रेम की दीवानगी रखता है। 'छितवन की छाँह' में स्मृति की स्वच्छन्दता की रागात्मक शैली में प्रस्तुति के द्वारा छितवन के नैसर्गिक सौन्दर्य को उद्भाषित किया गया है।

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने छितवन के सौन्दर्य को रेखांकित करते हुए लिखा भी है कि 'गन्ध-साधना, मैं बार-बार करता हूँ, जो सबसे चरम और कठिन साधना है। इस गन्ध-साधना का नन्दन वन यही छितवन है, जो जितना ही दूर रहता है, उतना ही मादक; जितना ही समीप, उतना ही सामान्य और निर्विशेष। ... छितवन पार्थिव शरीर के यौवन का प्रतीक है, उसकी समस्त मादकता का, उसकी सामूहिक चेतना का, उसके निःशेष, आत्म समर्पण का और उसके निश्चल और शुभ्र अनुराग का। छितवन की छाँह में अतृप्ति की तृप्ति है, अरति की रति है और अथ की इति।' छितवन में सौन्दर्य का जो लालित्य लेखक को दृष्टिगोचर हुआ, कदाचित्त वही 'हरसिंगार' में भी, क्योंकि 'हरसिंगार है शिव के भालेन्दु का जावकमय शृंगार।' जैसे छितवन की छाँह मादक है, वैसे ही 'हरसिंगार की दूरन पाकर उत्कण्ठा और तीव्र हो जाती है, मन और बलवान हो जाता है और दर्द और नशीला।'

कहते हैं हरसिंगार में प्रतिदान की भावना होती है। अपने सौष्ठव से वह हर चाहने वाले को सम्मोहित करता है। आखिर वह प्रकृति का शृंगार जो ठहरा! कहते हैं, जब किसी का प्रेम खो जाता है, तब हरसिंगार की छाँह में ही आकर वह अपनी राह पा जाता है। एक से निराश होकर वह बहु का आशाप्रद हो जाता है। इस तरह एकोन्मुख प्रेम की मृत्यु को बहून्मुख प्रसार का जीवन देना, यही हरसिंगार का सन्देश है और जीवन के नीरव निशीथ में, विरह के अनन्त अन्धकार में और निराशा की विराट निःशब्दता में धीरज के ललौहें फूल बरसाना ही उसका काम है। हरसिंगार के बहुविध भाव-संसार को यहाँ लेखक ने अपनी रम्य शैली में प्रस्तुत किया है। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि क्या साहित्य केवल शब्दों में भाव-संसार का खुलना-खिलना ही है अथवा और कुछ भी है? विद्यानिवास मिश्र के इन निबन्धों को पढ़ते हुए मेरी यह धारणा पुष्ट होती है कि साहित्य आज भी अन्ततः और तत्त्वतः भाषा की साधना है, जो अभिव्यक्ति के कौशल को समृद्ध करता है। इस उक्ति के विनियोग के लिए ‘गऊचोरी’ निबन्ध की चर्चा की जा सकती है।

कभी-कभी सामान्य बतकही से भी असामान्य किस्से निकलने लगते हैं, ऐसा ‘गऊचोरी’ को पढ़ते हुए लगा। एक बार जब बाढ़ उतार पर थी, तो नाव से अपने गाँव जाते हुए यों ही बतकही के लिए लेखक ने माझी से पूछा—‘कह सहती, गाँव-गड़ा के हाल-चाल कइसन बा?’ जवाब में पता चला कि इन दिनों गाँव-ज्वार में गाय की चोरी बहुत हो रही है। फिर इस गऊचोरी के ब्याज से लेखक ने गाय-चोरी के अलावे भूमि चोरी, राज्य चोरी, साहित्य चोरी तथा आँख या इन्द्रिय चोरी की ऐसी तार्किक गाथा बुनी कि उसके विश्लेषण-सौन्दर्य पर कौन न मुग्ध हो जाए! लेखक के अनुसार गऊचोरी का ही विकसित रूप है भूमि की चोरी, जिसके जनक पटवारी होते हैं। कहावत है कि सोने की चिड़िया को हलाल करने के लिए अँग्रेजों ने ही पटवारी प्रथा चलाई। भूमि चोरी का ही विस्तार है राज्य चोरी। बकौल लेखक ‘पटवारी जो छोटे पैमाने पर हमारे गाँव में करता है, वही विराट पैमाने पर कर रहे हैं बड़े-बड़े स्वनामधन्य राजनीतिज्ञ। काश्मीर और कोरिया को चोरों की छीना-झपटी में श्मशान बना डालने वाली नीति क्या उससे कम श्लाघ्य है? हाँ, दण्ड दोनों नहीं पाते। पटवारी के पास शासन का कवच है और राजनीतिज्ञ के पास सिद्धान्त का कवच है।’ तो इसी भूमि और राज्य चोरी की राह उसकी अगली कड़ी में है साहित्य की चोरी, जहाँ रचना से लेकर पुस्तक तैयार करने का कुटीर उद्योग चलता है। साहित्य में चोरों के कई वर्ग होते हैं। पहले वर्ग में नवसिखुआ ग्रेजुएट आते हैं जो आदेश मिलने पर अपने हरबा-हथियारों से न जाने कितने वाणी-मन्दिरों में सेंध लगा-लगाकर माल इकट्ठा कर लेते हैं, जबकि दूसरे वर्ग में श्रीहितैषी जी आते हैं जो अपनी अलग प्रतिभा का चमत्कार दिखाते हैं। ये अपनी आलोचना के कुछ बँधे लच्छे, यहाँ-वहाँ जोड़ देते हैं

और बस साहित्य के आगे 'कुसुम, सुमन, सौरभ, पराग, चन्द्रिका, कमल, प्रकाश, आलोक और किरण' जैसा कोई एक शब्द जोड़कर साहित्य के विकास में अभिनव श्रीवृद्धि करने का सुयश कमा लेते हैं।' साहित्य चोरी का तीसरा वर्ग है प्रकाशन, जो प्रायः इन पहले दो चोरों का भी गला काटने वाले होते हैं। साहित्य चोरी का चौथा वर्ग दलाल और पाँचवाँ वर्ग पाठ्य-पुस्तक समिति है। लेखक के अनुसार 'हाँ, इस गऊचोरी को सभ्य संसार बड़ी आदर-दृष्टि से देखता है, जो जितना ही चोरी करता है, वह उतना ही पण्डित और विद्वान समझा जाता है। बिना इस चोरी की कला में प्रवीण हुए किसी साहित्यकार को इतिहास में स्थान नहीं मिलता, कारण यह कि तत्कालीन इतिहास को लिखवाने वाले को भी इन चोरों के भाई-बन्धु ही होते हैं, जो छद्म रूप से इस व्यवसाय को प्रोत्साहन देते हैं, वैसे ही जैसे गाँव की पुलिस, हलका के कानूनगो या अन्तरराष्ट्रीय दार्शनिक अपने-अपने क्षेत्रों में चोरियों को बढ़ावा देते हैं।'

पाँचवीं गऊ है आँख या इन्द्रिय, जिसकी चोरी युगों-युगों से होती आई है। इस पाँचवीं चोरी की व्यवस्था करने वाले सांसारिक भाषा में 'चित्तचोर' कहे जाते हैं। जितने भी गऊचोर हैं, उसमें सबसे सांघातिक चित्तचोर ही माने जाते हैं। क्यों? क्योंकि 'बैल चोरी चले जाने पर गरीब की खेती खड़ी हो सकती है, जमीन की चोरी चले जाने पर बेवा की जिन्दगी बसर हो सकती है, राज्य छिन जाने पर राष्ट्र जी सकता है और अपनी कृति की चोरी के बाद साहित्यकार में भी प्राण-शक्ति बची रह सकती है, पर चित्त चुरा लिया गया तो प्राण नहीं रहते।' यह पाँचवीं चोरी सबसे अधिक दुर्दान्त होती है, इसलिए लेखक का मानना है कि 'चार गऊचोरियों को मूर्ख लोगों के लिए छोड़ दिया जा सकता है, पर यह जो पाँचवीं सिद्ध चोरी है, उसके लिए कोई देवी-देवता ही पूजनी चाहिए और इसके देवी-देवता हैं राधाकृष्ण।' इस ललित निबन्ध की रचना इतनी रम्य शैली में हुई है कि उसके प्रवाह में बहते चले जाने का अपना ही आनन्द है। पण्डित जी के इन ललित निबन्धों में विषय-दृष्टि, भाव-भंगिमा और स्वर, इन सबका सहज और प्रौढ़ समन्वय है। भाषा-शैली सहज ग्राह्य है, जिसका जीवन्त, उदाहरण के रूप में 'गऊचोरी' को देखा जाना चाहिए। पण्डित जी के निबन्ध प्रायः संस्मरणात्मक ही होते हैं।

'साँझ भई' में जीवन-यौवन की सन्ध्या का व्यंजनामूलक आख्यान है, तो 'बसन्त आवै' में बिछोह का मधुर क्रन्दन। ये दोनों ही निबन्ध मन की आकुलता को स्मृत्याभास से सन्तृप्त करते हैं। एक में 'सर्वे बभूवुस्ते तृष्णीं वयांसीव दिवात्यये' (अर्थात् दिन डूबने पर जैसे पंखी शान्त हो जाते हैं, वैसे ही सब लोगों ने मौन गह लिया।) का भाव-संसार है, तो दूसरे में 'प्रीतम मोहि जो दरसावै' के दर्शन की कामना ललक के साथ की गई है। इसी तरह 'जमुना तीरे-तीरे' में यमुना किनारे फैले करील वन के व्याज से जीवन में प्रेम के सौन्दर्य की व्याप्ति की भाव-तरंगें हैं जो विकट क्षणों

में भी मन को सुकून देती हैं। यमुना तटों पर फैले जीवन के विस्तार में कुछ स्मृतियाँ ऐसी भी हैं जो थकान में भी ताजगी की मधुरता प्रदान करती हैं और जिससे जीवन का महमह कटूक्तियों को विस्मृत कर देता है; तभी तो लेखक मानता है कि जीवन की 'इस थकान में भी जमुना के तीरे चलते रहने का अपने-आप क्रम बना हुआ है। वह कम नहीं है। यों तो अपने नसीब के नाम पर कल्पना करना मानव स्वभाव है, उसके लिए मैं क्या करूँ?' व्यंजना व्याज से यह निबन्ध सन्ताप को सुकून में बदलता है, मसलन लेखक का यह कहना कि 'सुना है कि यमुना और यमराज में भाई-बहन का नाता है, शुभ-अशुभ और विधि-निषेध की थप् थप्, इसलिए इस धारा में एक क्षण भी बन्द नहीं होती, भाई इनके लेखा-जोखा के ठेकेदार जो ठहरे!'

पुस्तक में 'टिकोरा', 'होरहा', 'घने नीम तरु तले', जैसे निबन्ध भी हैं, जो स्वच्छन्द मन के प्रकृति-संस्कृति विचरण की शृंगार गाथा बताते हैं। टिकोरे का शृंगार और होरहा के स्वाद पर किसका मन न मचल उठे, ऐसी मादकता इन निबन्धों में है। 'काँची अमिया न तुरिहड़ बलमु काँची अमिया' जैसे पूरबी गीत के बोल से मन के तार रसाल कानन की किन स्मृति-वीथिकाओं से जुड़ जाए, कोई नहीं जानता। लेखक का मन उसमें रचा-बसा, इसलिए 'कानन जोगू' पण्डित जी के लिए 'यह नए वर्ष का उदय है और मधुमास का चरम उत्कर्ष' भी। टिकोरा ऋतु-संस्कृति के जागने का पर्व है पण्डित जी के लिए, इसलिए देसी संस्कृति की धूम में उनका क्लान्त मन भी खिल उठता है। होरहा की सुगन्ध भी ऐसी ही होती है। होली के साथ ही होरहा का भी समय शुरू होता है, जब डण्ठल-पत्ती समेत बूट को भूनकर और छील-छालकर नए अधपके चने का बिना नमक-मिर्च के आस्वादन के साथ होरी-होरहा की संगति पूरे गाँव को मदमस्त कर देती है। लेखक ने इसका बड़ा रमणीय चित्रण किया है। गाँव में नीम, महुवा आदि के पेड़ अपने नैसर्गिक सौन्दर्य से लोगों को लुभाते हैं। पण्डित जी का मन भी नीम पर फिदा रहता है। क्यों भला! 'अब सोचिए, नीम में क्या मिलता है, गन्ध असह्य, स्वाद असह्य, यहाँ तक कि कुसुमित नीम का रूप भी असह्य, चारों ओर सफेद बुंदियाँ छिटकी हुई, पत्तियाँ इतनी दूर-दूर कटी-कटी कि पेड़ की जड़ बिचारी ओट के लिए तरसती रहती हैं। इसलिए आम में फसल न आए, महुवे में कूँचें न लगें, गुलाब में कली न आए और मधुमास सूना चला जाए, पर नीम बराबर फूलेगा, बराबर फरेगा और इतना फरेगा कि अकुला देगा, इतना बेशर्म कि वह कट जाने पर भी इसकी लकड़ी में घुन न फटकेगा। यदि कहीं नीम की शहतीर लग गई हो तो वर्षा होते ही जो आकुल दुर्गन्धि व्याप्ति है तो प्राण औंतियापात हो उठते हैं। पर हाय रे नियति का विधान कि घर-घर बिना जतन सेवा के नीम धरती की छाती का स्नेह छीन कर खड़ा मिलेगा।'

पण्डित जी के नीम प्रेम के कई कारण हैं। उनमें एक कारण है 'नीम तो सुनता हूँ लगता भर तीता है, पर अपने परिणाम में मधुर होता है, पर इसके प्रतिरूप मानव

जगत का सप्ततिवृत्त तो आदि से अन्त तक एकरस है।' व्याजस्तुति भाव से नीम की वन्दना करते हुए लेखक मानता है कि इस कड़ुवी दुनिया का इलाज नीम के पास ही है। एक अन्य निबन्ध 'धनवा पियर भइलें मनवा पियर भइलें' में खाद्य समस्या के व्याज से राजनीति और साहित्य की विरूपता पर टिप्पणी की गई है। देश में ग्रामों का विकास हुआ नहीं, क्योंकि ग्राम के देवता पाँच-पाँच सालों पर ही ग्राम की फेरी लगाते हैं। ऐसे में 'हंस पानी छोड़ देता है, उच्चवर्गीय साहित्यकार भी नीरस पानी साधारण लोगों के लिए छोड़ देता है, सरोवर के कमलों पर जीने वाला हंस इतनी दया तो दिखाता है; परन्तु आकाश के मेघ और धरती के 'परजन्य' जनता के शासक तो धरती का पानी उगाहकर, धरती का रक्त उगाहकर, धरती का रस उगाहकर, धरती का मधु उगाहकर और धरती का दूध उगाहकर पानी का एक बूँद भी नहीं देना चाहते। वे अपना संचित सम्भार निभृत कोनों या मन पियराये, इससे उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता। उसके आस-पास मोर नाचते रहते हैं, वे उसी में आत्मविभोर रहते हैं, उन्हें कुररी का विलाप सुनाई नहीं पड़ता।' ग्राम्य जीवन का रूप तत्त्व कोई हो, उसके प्रति वाह्य संसार का प्रतिकूल रुख लेखक के मन को पीड़ित करता है, जिससे लोकपक्ष की संस्कृति की संरक्षा में वह सन्नद्ध हो जाता है। प्रकृति ग्राम की हो, लोक की, ऋतु की, पर्व की, संस्कृति की या फिर जन सामान्य की, सबकी संरक्षा एवं समृद्धि से ही लेखक ऊर्जा ग्रहण करता है, क्योंकि उसी की छाँह में वह पल्लवित-पुष्पित हुआ। अपने एक निबन्ध 'साँची कहाँ ब्रजराज तुम्हें रतिराज किधौ रितुराज कियौ है' में लेखक रति, रितु और रितुराज के अन्तःसम्बन्धों पर अपने भाव विस्तार के क्रम में निष्कर्षतः लिखता है कि 'वसन्त और कला के बीच कौन-सा सम्बन्ध हो और उसका स्वरूप कैसा हो, इसका विचार करने के लिए भी कला के ऐसे विकास की आवश्यकता है जो वसन्त की कृपादान मात्र पर अवलम्बित न होकर अपने वितान से वसन्त को भी छतनार बनाने की क्षमता रखता हो, अन्यथा वसन्त की इतरान में कला विहँस न सकेगी, वह नीचे दुबकी रहेगी और संस्कृति का प्रवाह रुद्ध हो जाएगा; वह कुन्द हो जाएगा, जहाँ से उबरने का कोई मार्ग न रहेगा'।

'वसन्त न आवै', 'चन्द्रमा मनसो जातः', 'प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायेगी', 'सखा धर्ममय अस रथ जाके', 'दीया टिमटिमा रहा है', 'ताण्डवं देवि भूयादभीष्ट्यै च नः' जैसे चार निबन्धों में भी रितु, रीति, रति, पर्व, धर्म आदि के सौन्दर्य के व्याज से सामाजिक सरोकार का प्रीति संसार रचा गया है। धर्मनिरपेक्ष लोकतान्त्रिक जीवन-मूल्यों का प्रवाह ऐसे ही प्रीति संसार से प्रवाहित होता है। अपने निबन्धों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाव परम्परा को समृद्ध करने वाले पण्डित विद्यानिवास मिश्र विषय-विस्तार की रागात्मक स्वच्छन्दता की ऐसी सांस्कृतिकता की गाथा रचते हैं, जो अनूठी ललित शैली से सम्मोहित कर लेती है। पण्डित जी प्रायः

संस्मरणात्मक शैली में ही निबन्ध रचते हैं, जिसमें ग्रामीण संस्कृति के भी दर्शन हो जाते हैं और उनकी शैली से एक प्रकार की आत्मीयता उत्पन्न हो जाती है। उनके निबन्धों में कहीं भी पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं; बल्कि उसके स्पर्श से वर्ण्य-विषय सामाजार्थिक पक्ष ही विश्लेषित होते हैं, जो पाठकों के दृष्टिकोण को उन्नत ही करते हैं। नगण्य-से-नगण्य विषय भी उनकी अनूठी शैली से जीवन्त हो उठते हैं, क्योंकि उनके निबन्धों में भाषा-भूगोल की लोक-संस्कृति पाठकों से बोलती-बतियाती नजर आने लगती है।

ललित निबन्ध में प्रायः शैली को ही प्रमुखता दी जाती है, इतना कि कभी-कभी वर्ण्य-विषय पर शैली तनकर खड़ी हो जाती है। इससे उसका चमत्कार तो प्रभावित करता है, किन्तु विषय का सौष्ठव क्षीण पड़ जाता है। पण्डित विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में शैली, भाषा, शिल्प आदि का शृंगार तो है, पर विषय का सौन्दर्य चमक उठने तक ही। आलोचकों का ध्यान इनकी अनूठी शैली के चमत्कार की ओर ही अधिक गया है। 'छितवन की छाँह' के 'आभा' में पण्डित जी ने लिखा भी है 'शैली को मैं साधन मानता हूँ, साध्य नहीं।' इसी तरह अपनी निबन्ध-भाषा के बारे में भी उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'संस्कृत में जमकर अँग्रेजी का स्तन्यपान किया है, पर मुझे छाँव मिली है भोजपुरी के धानी आँचर में, सो इनसे मेरा अविलग भाव है।' इसी तरह अपने निबन्ध लेखन के प्रेरक स्रोतों का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'निबन्ध कला में मुझे सबसे अधिक प्रेरणा दो फक्कड़ों से मिली है, वे हैं भैया साहब पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।' यही नहीं, अपने भाषा एवं साहित्य संस्कार के गठन में प्रेरक स्रोतों का उल्लेख करते हुए पण्डित जी कहते हैं कि 'संस्कृत के पठन-पाठन की ही मेरे कुल में परम्परा रही है पर मैं रूढ़ि के 'गणनां त्वा' के आगे न जा सका और ए.बी.सी.डी. लिखने लगा। यूनिवर्सिटी में पहुँचते-पहुँचते संस्कृत अध्ययन की ओर मेरा प्रत्यावर्तन हुआ और तभी एक ओर रॉबर्ट लुई स्टीवेंसन, टामस डिक्वेंसी, चार्ल्स लैम्ब और स्विफ्ट की कलमनवीसी से प्रभावित हुआ। दूसरी ओर बाणभट्ट, भवभूति एवं अभिनवगुप्त पादाचार्य की भाषा-शक्ति का भक्त बना। मेरी तबीयत भी गुलेरी, पूर्ण सिंह, माधव मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की डगर पर चलने के लिए मचलने लगी और कागद-स्याही का मैंने काफी दुरुपयोग किया भी। भाषाडम्बर के पचीसों ठाठ बाँधे और उधेड़ दिए। ...साहित्य का अधकचरा अध्ययन, मित्रों का प्रोत्साहन, पूरबी का स्नेहांचल-वीजन और अपना बेकार जीवन, मेरे मध्यवित्तीय निबन्धों को यही दाय मिला है।' इन समस्त तथ्यों से पण्डित विद्यानिवास मिश्र के साहित्य-जीवन का गठन ही नहीं, उनके ललित निबन्धों के रचाव का भी बोध होता है।

14 जनवरी, 1926 ई. को गोरखपुर (उ.प्र.) के एक गाँव पकड़ीडीहा में जन्मे पण्डित विद्यानिवास मिश्र का निबन्ध लेखन 1956 ई. से ही आरम्भ हो गया था,

लेकिन उनके पहले ललित निबन्धों का संग्रह 'छितवन की छाँह' 1976 ई. में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के निबन्धों पर स्वाभाविक रूप में संस्कृत का प्रभाव अधिक है, किन्तु इससे रसोत्पादन में कहीं बाधा खड़ी नहीं होती। किसानों की जीवन और कारीगरी संस्कृति की अन्तःसलिला जीवनधारा को फिर से अपने निबन्धों द्वारा प्रतिष्ठापित करने में उन्हें अद्भुत सफलता मिली। कहना चाहिए कि उनके ललित निबन्ध का लोकतन्त्र भारतीय समाज के किसानों-कारिगरी संस्कृति के पल्लवन से ही ऊर्जा ग्रहण करता है और जिसमें सामान्य जन के लिए करुणा, न्याय और प्रतिरोध का संग्राम है। लोकरंगों से अपने ललित निबन्धों में आत्मीयता का सघन भाव उत्पन्न करने वाले चितेरा लेखक पण्डित विद्यानिवास मिश्र का आकस्मिक निधन 14 फरवरी, 2005 ई. को एक कार दुर्घटना में क्या हुआ, मानो ललित निबन्धों से 'ललित' फुर हो गया!

## भारतीय सेक्युलरवाद के मायने

निशीथ राय\*

मौजूदा दौर में सेक्युलर, स्यूडो सेक्युलर या कम्युनल जैसी बातों पर खूब चर्चा हो रही है। संस्था, समूह और व्यक्ति हर किसी के सन्दर्भ में लगातार हो रही इस तरह की चर्चाएँ सेक्युलरवाद की एक नई परिभाषा गढ़ रही हैं। ऐसे में सेक्युलरवाद की वैचारिक आधारशिला का स्पष्टीकरण जरूरी समझा जाना चाहिए। जहाँ तक मेरा मानना है कि भारत न ही पश्चिमी देशों की तरह सेक्युलर है और न ही पश्चिम की तरह पन्थनिरपेक्ष या धर्मनिरपेक्ष। अब अधिकांश सन्दर्भों में सेक्युलर शब्द का हिन्दी अनुवाद धर्मनिरपेक्ष से जोड़ा जाता है या मान लिया जाता है, जबकि वास्तविक अर्थों में इसका तात्पर्य पन्थनिरपेक्ष से है। यह एक महत्वपूर्ण पहलू है, जिस पर गम्भीरता से विचार किया जाना आवश्यक है।

यहाँ धर्मनिरपेक्ष का तात्पर्य धर्म शब्द की व्यापकता से है, जबकि इस सन्दर्भ में सेक्युलर शब्द बहुत ही संकुचित अर्थ लिए हुए है। अगर हम धर्म शब्द की गहराई से पड़ताल करें तो अर्वाचीन समय में यह धारणा थी कि हमारा ब्रह्माण्ड 'ऋत' द्वारा स्थापित किया गया है और इस 'ऋत' की खोज में ऋषि-मुनि अपना पूरा जीवन लगा देते थे। उसके लिए बाकायदा धर्मानुसार आचरण और नियम बने हुए थे, जैसे सत्य का पालन करना, चोरी न करना, झूठ न बोलना इत्यादि। तत्पश्चात् जीवन काल को भी प्रकार्यात्मक आधार पर चार भोगों में बाँटा गया था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। हर भाग के अपने अलग-अलग धर्म बताए गए थे। धर्म शब्द को कर्ता और कर्म से जोड़कर देखा जाता है अर्थात् धर्म वह जो धारण किया जाए और उसके अनुरूप कर्म किया जाए। इस प्रकार धर्म जीवन व्यतीत करने की नियमावली के रूप में परिलक्षित होता है। धर्म जीवन जीने का तरीका बताता है। उदाहरण के तौर पर शिक्षक का धर्म है पढ़ाना, विद्यार्थी का धर्म है पढ़ना या आग का धर्म है जलना तो

\* डॉ. निशीथ राय, सहायक प्रोफेसर, मानव विज्ञान, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, मो. 9545200077, ई. मेल. nisheeth.rail@gmail.com



धर्मनिरपेक्षता का अर्थ हो जाएगा शिक्षक को पढ़ाने से अलग करना, विद्यार्थी को पढ़ने से अलग करना, आग को जलाने से अलग करना अर्थात् सबको उसकी नैसर्गिक प्रति से विलग करना। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता एक परस्पर विरोधी शब्द के रूप में दिखता है, जो कभी सम्भव नहीं हो सकता। धर्म के कई और उपयोग दिखते हैं, जैसे—विधिशास्त्र में धर्म का अर्थ कानून से होता है, जैसे चोरी किया तो धर्मानुसार सजा हो। नीतिशास्त्र में धर्म का अर्थ नैतिक आचरण से है, जैसे—पिता का धर्म है पुत्र का भरण-पोषण करना। तत्त्वमीमांसा में धर्म का अर्थ 'रिलीजन' होता है, जैसे—अल्लाह के लिए नमाज पढ़ना या ईश्वर की उपासना करना। व्यावहारिक दृष्टिकोण से अगर देखें तो धर्म का अर्थ न्याय, समानता और कर्तव्य होता है। इन्हीं सब कारणों से व्यक्ति/राज्य को धर्म से विरक्त करना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष अपने-आप में परस्पर विरोधी शब्द है। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर संविधान में जिस शब्द का उपयोग किया गया है वह पन्थनिरपेक्ष है। इसलिए सेक्युलरिज्म को हिन्दी में पन्थनिरपेक्ष कहना ज्यादा उचित है। हालाँकि वर्तमान में धर्मनिरपेक्ष के ज्यादा प्रचलन में आने से सेक्युलर शब्द को उसी से जोड़कर देखा जाता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में पन्थनिरपेक्षता की अवधारणा पश्चिम से भिन्न है। इसे समझने के लिए हमें यूरोप में सेक्युलर शब्द के प्रचलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को गहराई से जानना पड़ेगा। इतिहास पर गौर करें तो ईसाई धर्म के अनुयायियों की शुरुआती दौर में काफी दुर्दशा हुई। शासक नीरो (Nero) के समय ईसाई धर्म को मानने वाले लोगों को बहुत प्रताड़ित किया गया। हालाँकि दियोक्लेशियन (Diocletian) द्वारा ईसाई धर्म को मान्यता देने के साथ ही इसके विकास की गति तेज हो गई। थियोदोसियो (Theodosiu) के समय तक तो ईसाई धर्म बहुसंख्यकों का धर्म बन गया था। लेकिन यह विडम्बना ही है कि जिस धर्म की आधारशिला संघर्षों की बुनियाद पर खड़ी हुई थी, उसने भी वही सब किया, जो बहुसंख्यक धर्मवाले करते आए थे। अल्पसंख्यक धर्मवालों को मारना, जलाना आदि-आदि। आगे चलकर ईसाई धर्म ने इतनी शक्ति हासिल कर ली कि वे कहने लगे कि ईश्वर ने अपनी शक्ति पादरी को दी, पादरी ने शासन की शक्ति राजा को दी और आध्यात्मिक शक्ति अपने पास रख ली यानी राजा को शक्ति पादरी ने दी। ईश्वर का जुड़ाव सीधे पादरी से है। इस सोच ने धीरे-धीरे न सिर्फ चर्च की शक्ति इतनी बढ़ा दी, कि उसे तानाशाह और निरंकुश बना दिया। यानी राजा क्या करेगा, किससे विवाह करेगा, किसको राजा बनाएगा इत्यादि सब पादरी द्वारा निर्धारित किया जाने लगा। समयानुसार इसमें बदलाव हुआ और पुनर्जागरण का दौर चला। नए छपाई कारखाने खुले, जिसमें बाइबिल का प्रकाशन वृहद स्तर पर हुआ। आम जनता ने जब बाइबिल पढ़ी तो यहाँ पाया कि पादरी द्वारा किया हुआ निर्वचन और बाइबिल में लिखी हुई बातों में बहुत भिन्नता है। लोगों में जागरूकता बढ़ी और ईसाई धर्म में दो पन्थ बन गए—कैथोलिक

और प्रोटेस्टेंट। पहले यूरोप में एक धर्म को मानने वाले थे अब अलग-अलग पन्थ के मानने वाले हो गए। इनकी जनसंख्या को ठीक से किस प्रकार रखा जाए, ऐसे प्रश्न उठने लगे तो अलग-अलग राज्य में अलग-अलग पन्थ के लोग यानी जनसंख्या का स्थानान्तरण शुरू हुआ। इसी समय सहिष्णुता का नियम भी आया, जो सेक्युलर का प्रमुख भाग बन गया।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया आरम्भ होने के साथ ही विज्ञान और तकनीकी का भी तेजी से विकास हुआ। धीरे-धीरे जिन घटनाओं को दैवीय प्रकोप समझा जाता था, उन्हें विज्ञान ने उनमें छिपे प्राकृतिक कारणों को बताकर समस्या का निदान किया। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि सेक्युलरवाद की प्रक्रिया पुनर्जागरण, आधुनिकीकरण, विज्ञान और तकनीकी के साथ-साथ आगे बढ़ी। 19वीं शताब्दी के मध्य में सन् 1851 में एक दार्शनिक हुए जैकोब होल्योक (Jacob Holyoak) जिन्होंने पहली बार सेक्युलर शब्द का उपयोग किया। उनके मुताबिक राज्य और धर्म का सह-अस्तित्व हो सकता है। अगर राज्य और धर्म अपना-अपना अलग-अलग कार्य करें। यानी इन्होंने सेक्युलर के सह-अस्तित्व की परिभाषा दी। इसी परिभाषा का उपयोग अमेरिका, यूरोप जैसे देशों ने अपनाया। दूसरे दार्शनिक बैरिकोस्मिन (Barry Kosmin) के अनुसार धर्म, विज्ञान और विकास के लिए प्रतिकूल है। इसलिए राज्य में धर्म का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। यानी इनका सेक्युलर का सिद्धांत धर्म-विरोधी था। इसका अनुसरण कम्युनिस्ट देशों जैसे चीन, रूस इत्यादि ने किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या भारत सही मायने में सेक्युलर है? अगर देखा जाए तो सेक्युलरिज्म की ऐसी कोई परिभाषा नहीं है, जिसमें हम भारत को रखकर कहें कि भारत सेक्युलर है। ऐसा इसलिए है कि भारत में सहिष्णुता को प्राचीन समय से ही अपनाया गया है और राज्य और धर्म का एक-दूसरे में पर्याप्त हस्तक्षेप रहा है। प्राचीन समय में राजा धर्म के संरक्षण के साथ मन्दिरों का निर्माण एवं दान देने का कार्य भी करते थे। मध्यकाल में भी नवाबों और मुगल शासकों द्वारा मस्जिद और मजारें बनवाई गईं और दान भी दिए गए। यहाँ राजा को धर्म से अलग नहीं रखा जा सकता। अँग्रेजों ने भी कई चर्च बनवाए और मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। आजादी के बाद भी राज्य पूर्णतः धर्म से अलग नहीं है, क्योंकि आज भी कुम्भ मेला लगता है या ताजिया का जुलूस निकलता है या हज की तैयारी होती है, जिसके व्यवस्थापन, संरक्षण एवं पोषण की सारी व्यवस्था सरकार ही करती है। अगर हम इसे आधार मानें तो भारत सेक्युलर कैसे हो सकता है। दरअसल, सेक्युलरिज्म को परिभाषित करना बड़ा मुश्किल है। इसके लिए सेक्युलर की तीन शर्तों को ध्यान में रखें, तो सेक्युलर है या नहीं यह स्थिति कुछ हद तक स्पष्ट हो सकती है। यह शर्तें तीन सम्बन्धों पर आधारित हैं—

1. राज्य धर्म के बीच सम्बन्ध
2. राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध।
3. धर्म और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध।

इन तीनों सम्बन्धों को समझकर ही हम सेक्युलर क्या है, इसे समझ सकते हैं :

1. राज्य धर्म के बीच सम्बन्ध—राज्य और धर्म दोनों अलग-अलग होने चाहिए, जैसा पश्चिमी देशों में पाया जाता है। अर्थात् राज्य का दायरा अलग और धर्म का दायरा अलग। दूसरे शब्दों में राज्य के मामलों में धर्म का हस्तक्षेप और धर्म के मामले में राज्य का हस्तक्षेप न हो। अमेरिका ने इस प्रकार सेक्युलर राज्य बनाने की कोशिश की, परन्तु वह पूरी तरह सफल नहीं हो पाया, क्योंकि आज भी वहाँ फौज में पादरियों की नियुक्ति होती है। हर शपथ ईश्वर के नाम पर ली जाती है इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और राज्य के बीच दीवार छिद्रित है। वह पूरी तरह दोनों को पृथक् नहीं कर पाती है। परन्तु दोनों के बीच तर्कसंगत दूरी बनाए रखने में वह सफल प्रतीत होती है। अर्थात् यह नहीं लगता है कि धर्म से ही राज्य चल रहा है।

2. राज्य और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध—राज्य और व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध नागरिकता पर आधारित होता है। यह सम्बन्ध नागरिकता से निर्मित होता है अर्थात् क्या नागरिकता किसी धर्म पर आधारित है या नहीं। यदि है तो वह सेक्युलर नहीं होगा। भारत में किसी भी धर्म को मानने वाला कुछ शर्तों को पूरा कर नागरिकता प्राप्त कर सकता है। इस मायने से भारत सेक्युलर देश प्रतीत होता है।

3. धर्म और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध—धर्म और व्यक्ति के बीच का सम्बन्ध स्वतन्त्रता का होना चाहिए। एक व्यक्ति जिस धर्म को चाहे उसे अपनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। भारत में यह स्वतन्त्रता है, इसलिए भारत सेक्युलर देश प्रतीत होता है।

सेक्युलरिज्म की तीनों शर्तों के आधार पर अगर हम भारत की स्थिति परखें तो यह देखेंगे कि भारत पर पहली शर्त लागू नहीं होती है। ऐसा इसलिए था, क्योंकि आजादी के बाद भारत में तरह-तरह के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन किए जाने थे। अगर राज्य अपने-आपको धर्म से अलग कर लेता तो समाज में वह सारी बुराइयाँ बनी रहतीं। धर्म के नाम पर बाल-विवाह, सती-प्रथा, देवदासी, अस्पृश्यता आदि कुप्रथाओं को समाप्त करना जरूरी था। अगर राज्य अपने-आपको धर्म से अलग कर लेता तो यह सारी चीजों से समाज मुक्त नहीं हो पाता। यही कारण था कि संविधान के निर्माताओं ने सेक्युलर शब्द को नहीं रखा, क्योंकि ऐसा करने पर संघर्ष पैदा होता। सेक्युलरिज्म की मदद लेकर लोग न्यायालय जाते और सरकार का काम करना मुश्किल हो जाता। के.एन. सहाय ने सेक्युलर शब्द जोड़ने की सिफारिश की थी, पर अम्बेडकर ने कहा कि इसे नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि सेक्युलर पश्चिम की तरह राज्य और धर्म में अलगाव माँगता है और भारत में अभी बहुत तरह के

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन करने हैं। बाद में इन्दिरा गाँधी ने 42वाँ संशोधन कर सेक्युलर और सोसलिस्ट शब्द जोड़े। मजे की बात यह है कि जब से यह दोनों शब्द जुड़े हम सेक्युलर से दूर होकर कम्युनल हो गए (1984 के दंगे) और सोसलिस्ट से दूर होकर कैपिटलिस्ट की ओर बढ़ते हुए 1990 में उदारवादी और पूँजीवादी हो गए। संविधान के निर्माता इस बात से अवगत थे कि सेक्युलरिज्म शब्द एक निश्चित सन्दर्भ में होता है, अर्थात् राज्य का दायरा अलग और धर्म का अलग। हमारे यहाँ ऐसा नहीं था, इसलिए इस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है।

जहाँ तक दूसरी शर्त की बात है तो भारत में नागरिकता धर्म के आधार पर नहीं होती है। तीसरी शर्त को हम देखें तो भारत ने हर व्यक्ति को अपने अनुसार धर्म चुनने उसका पालन करने और उसके प्रचार-प्रसार की स्वतन्त्रता दी है। परन्तु यह सारी स्वतन्त्रता अधिनियम 25 के द्वारा सीमाओं में बँध जाती है। इसके मुताबिक धर्म से सम्बन्धित सारी स्वतन्त्रता तभी तक है, जब तक जनता की नैतिकता, स्वास्थ्य और समरसता पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ रहा है। धर्म का अधिकार कुछ सीमाओं के अन्तर्गत मिलता है। इन्हीं कारणों से मूर्तियों का गंगा में विसर्जन विभिन्न उत्सवों में ध्वनि प्रदूषण इत्यादि पर रोक लगाई जाती है।

वर्तमान में अगर हम देखें तो जहाँ सेक्युलरिज्म की भावना धूमिल हो रही है, वहीं बहुसंस्कृति की धारणा विकसित हो रही है। इन्हीं कारणों से भारत की आजादी के बाद समांगीकरण, पृथक्करण और एकीकरण का कार्य किया गया। समांगीकरण के अन्तर्गत एक भारतीय संस्कृति का विकास करने का प्रयास किया गया तो पृथक्करण के अन्तर्गत हर व्यक्ति को अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने की स्वतन्त्रता दी गई। एकीकरण के अन्तर्गत बहुसंस्कृति की सह-अस्तित्व की भावना पर जोर दिया गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सेक्युलरिज्म को भारत में एक नया देशज रूप मिला है, जो उसकी परिस्थितियों से विकसित हुआ, जो पश्चिम देशों से पूर्णतया भिन्न था। इन अर्थों में अगर नागरिक अपने-अपने धर्म, संस्कृति, पन्थ को अपनाते हुए देश को जोड़ने तथा विकसित करने का प्रयास करें तो सही मायनों में भारत एक सेक्युलर राष्ट्र है।

## अल्लामः इकबाल का एक रूप यह भी

कृपाशंकर सिंह\*

इकबाल उर्दू के एक बड़े शायर और दर्शनशास्त्र के विद्वान के रूप में जाने जाते हैं। उनकी मशहूर नज़्म 'सारे जहाँ से अच्छा...' अत्यन्त लोकप्रिय है। पर उनका एक दूसरा रूप भी था, जिसके बारे में कम लोगों को पता है। उनका वह रूप एक मुस्लिम नेता का है। मुस्लिम नेता के रूप में यदि हम उनका आकलन करें तो जो सबसे प्रमुख बात सामने आती है, वह यह है कि इकबाल अपने पूर्ववर्ती मुस्लिम नेता सैयद अहमद खाँ से कई बातों में समानता रखते थे। जैसे यह कि मुसलमान एक अलग नेशन हैं।

इलाहाबाद में 29 दिसम्बर, 1930 को 'ऑल इण्डिया मुस्लिम लीग' का वार्षिक सम्मेलन हुआ। इकबाल उसके अध्यक्ष थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में इकबाल ने यह कहा कि "पश्चिमी देशों के विपरीत भारत में एक ही राष्ट्रीयता के लोग नहीं रहते हैं। ...भारत विभिन्न राष्ट्रीयताओं का देश है। जिनकी जाति, भाषा व धर्म सभी एक-दूसरे से अलग हैं। ...अतः यह किसी भी तरीके से उचित नहीं है कि इन अलग-अलग लोगों के वजूद पर ध्यान दिए बिना भारत में पश्चिम की तरह के लोकतन्त्र को थोप दिया जाए। अतः भारत के अन्दर एक इस्लामी भारत की मुसलमानों की माँग एकदम जायज है।"

आगे वे कहते हैं—“ऐसे देशों में जहाँ मुसलमान अल्पमत में हैं, सांस्कृतिक एकता के लिए स्वायत्तता प्राप्त करने की उनकी कोशिश पूरी तरह जायज होगी।”

इसके पहले दिल्ली में 'ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' की बैठक 31 दिसम्बर, 1928 तथा 1 जनवरी, 1929 को आगा खान की सदारत में हुई। इस बैठक में जिन्ना को छोड़कर अधिकांश मुस्लिम दलों के नेताओं ने भाग लिया। खिलाफत नेता भी इसमें शामिल थे। इस ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस ने नेहरू रिपोर्ट को पूरी तरह नामंजूर कर दिया। उधर हिन्दू महासभा ने मार्च के अन्त में नेहरू रिपोर्ट द्वारा मुसलमानों के लिए प्रस्तावित कुछ रियायतों के खिलाफ निर्णय लिया। हिन्दू महासभा

---

कृपाशंकर सिंह, डी-6 स्ट्रावेरी हिल, शिमला-171002 (हि. प्र.), मो. 09805476883

पृथक् साम्प्रदायिक मतदाता पद्धति के विरुद्ध और बिना किसी पूर्व शर्त के संयुक्त मतदाता पद्धति की समर्थक थी। महासभा का यह भी सोचना था कि प्रान्तों का साम्प्रदायिक बहुसंख्या के आधार पर पुनर्गठन नहीं किया जाना चाहिए।

अब्दुल लतीफ आजमी ने खुर्शीद के हवाले से कहा है कि 1928 के उस 'ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस' के समय इकबाल ने गुलाम रसूल मेहर तथा अब्दुल मजीद सालिक, जो 'इंकलाब' के सम्पादक थे, को बुलाकर कहा कि "ज्यादातर मुस्लिम नेता मुस्लिम अल्पमत वाले प्रान्तों के रहने वाले हैं। वे दूसरी चीजों के मुकाबले अपने प्रान्तों में अधिक नुमाइन्दगी पाने के लिए जोर देते हैं। उसके कारण पंजाब एवं बंगाल के मुसलमानों को अपना बहुमत खोना पड़ता है। इन हालात में उत्तर-पश्चिम भारत के मुसलमानों को नई दिशा में अपनी राजनीति शुरू करनी पड़ेगी, और अपने लिए एक अलग देश का निर्माण करना पड़ेगा। अब हमें इस नई दिशा की ओर इशारा करना चाहिए।"

साफ है कि इकबाल भारत में एक इस्लामी भारत बनाने के पक्षधर दिखाई देते हैं। यहाँ यह जानना जरूरी है कि मुस्लिम नेताओं ने भारत में अपने को एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने के लिए मुसलमान एक अलग नेशन है, का हमेशा इस्तेमाल किया है। यह क्रम सैयद अहमद खाँ से शुरू होकर इकबाल और जिन्ना तक चला आया है। द्विराष्ट्र का सिद्धान्त पाकिस्तान की माँग को जायज बताने के लिए जिन्ना की ओर से पेश किया गया मुख्य मुद्दा था। 17 सितम्बर, 1944 को महात्मा गाँधी से जिन्ना ने कहा कि "नेशन की किसी भी परिभाषा और टेस्ट से देखें तो मुसलमान और हिन्दू दो नेशन हैं।"

जबकि महात्मा गाँधी ने "हिन्दू मुस्लिम दो राष्ट्र हैं, इसे कभी स्वीकार नहीं किया। इस पर उनका कहना था—“इतिहास में मुझे ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें मत-मतान्तर को स्वीकार कर लेने वाले या उनकी सन्तानें अपने को अपने मूल से अलग राष्ट्र होने का दावा करें। इस्लाम के प्रचार के पहले यदि भारत एक राष्ट्र था, तो अपनी सन्तानों में से बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक मत बदल लेने के बावजूद वह एक ही राष्ट्र माना जाएगा। भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र (नेशन) नहीं हैं।"

(हिन्दुस्तान टाइम्स, गाँधी जिन्ना टाक्स, 11 सितम्बर, 1944)

यहाँ यह जानना प्रासंगिक होगा कि इकबाल और जिन्ना दोनों के पितामहों को हिन्दू से मुसलमान हुए बहुत लम्बा अरसा नहीं हुआ था। इकबाल के पूर्वज कश्मीरी ब्राह्मण रहे थे और जिन्ना खोजा परिवार के वंशज थे, जो गुजराती हिन्दू से इस्लाम में धर्मान्तरित हुआ था।

यहाँ यह बताना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि पाकिस्तान-माँग का दूसरा प्रमुख मुद्दा उर्दू जवान थी। और जिन्ना को उर्दू लिखना, पढ़ना बिल्कुल नहीं आता था।

बोलने का ज्ञान भी घर के नौकरों को आदेश देने तक ही सीमित था। हाँ, गुजराती वे जानते थे। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा (जिन्ना-एज आई न्यू हिम), जो जिन्ना के घनिष्ठ मित्र थे, ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि रफीउद्दीन के उर्दू की जानकारी से सम्बन्धित एक प्रश्न के जवाब में जिन्ना ने कहा था कि मैं उर्दू उतना ही जानता हूँ कि छोकरोँ और हम्माल से कुछ कह सकूँ। हाँ, गुजराती मैं ठीक से जानता हूँ।

दरअसल, द्विराष्ट्र को लेकर इकबाल और जिन्ना दोनों का मकसद फिरकापरस्ती को बढ़ावा देना, और इस तरह अपने को मुस्लिम कौम के नेता के तौर पर स्थापित करना था। वरना वास्तविक स्थिति यह थी कि अधिकतर बड़े और पारम्परिक रूप से स्थापित मुस्लिम संगठन द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त के खिलाफ थे। उसका सबूत यह है कि जब अप्रैल, 1946 में मुस्लिम संगठनों के जो प्रतिनिधि कैबिनेट मिशन से मिलने गए थे, उनमें मौलाना हुसैन अहमद मदनी (ऑल इण्डिया मुस्लिम पार्लियामेंटरी बोर्ड), जहीरुद्दीन (ऑल इण्डिया मोमिन कान्फ्रेंस), हुसैनी भाई लाल जी (ऑल इण्डिया शिया कान्फ्रेंस), हिसामुद्दीन (ऑल इण्डिया अहरार सभा), अब्दुल मजीद (ऑल इण्डिया मुस्लिम मजलिस) जैसे नेता थे, जो सभी अपने-अपने संगठनों के अध्यक्ष थे। इन नेताओं में सबने दो नेशन के सिद्धान्त को नकारते हुए उसे अव्यावहारिक बताया। और इनमें से किसी ने भी पाकिस्तान की माँग का समर्थन नहीं किया।

9 दिसम्बर, 1930 को इलाहाबाद में ‘ऑल पार्टीज मुस्लिम कान्फ्रेंस’ की समिति, जिसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू कर रहे थे, उसमें कान्फ्रेंस के अध्यक्ष इकबाल ने कहा कि “मेरी इच्छा है कि पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान को मिलाकर एक राज्य बना देना चाहिए।” यह प्रस्ताव उस वक्त यह कहकर अस्वीकृत कर दिया गया था कि प्रस्तावित राज्य इतना बड़ा हो जाएगा कि इसका शासन चलाना कठिन होगा।

पर इस पर टिप्पणी करते हुए नजीर अहमद (कलीद-उ-इकबाल, अहमद मलिक नजीर, पृ. 23) ने कहा है—“इस अध्यक्षीय भाषण में इकबाल ने पाकिस्तान योजना की पेशकश की थी।”

1934 के आरम्भ में थोम्पसन ने इकबाल को पत्र लिखते हुए उन्हें “उस योजना का नेता बताया है, जिसे पाकिस्तान कहते हैं।” इकबाल ने यह स्वीकार किया कि उन्होंने अपनी तकरीर (1930) में “भारत के उत्तर-पश्चिम में एक ऐसे प्रान्त बनाए जाने की सलाह दी थी, जिसमें मुसलमान आबादी बहुतायत से होगी।” (इकबाल, सैयद हसन अहमद)।

इस स्वीकारोक्ति के निहितार्थ को समझने के लिए विशेषज्ञता की जरूरत नहीं है कि इकबाल की यह योजना पाकिस्तान की अवधारणा के कितने निकट की थी। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक अलगाववादी बयान था, जो हिन्दू और मुसलमान दो अलग नेशन और रेस हैं, इस धारणा को पुष्ट करने वाला था।

‘द बुक आफ नॉलेज’ (सं. स्टीवेल तथा अन्य, 1959) में इकबाल के बारे में कहा गया है कि, ‘एक मुस्लिम कवि एवं फिलॉसफर सर मोहम्मद इकबाल भारत में एक स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य बनाना चाहते थे।’

26 जुलाई, 1934 को इकबाल ने थॉम्पसन को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी दिली इच्छा को व्यक्त किया है। पत्र में उन्होंने लिखा है, “मेरी दिलचस्पी तो इस्लाम की नैतिक राज्य-व्यवस्था में है, जिसने मेरा ध्यान राजनीति की ओर आकर्षित किया है।” (इकबाल, सैयद हसन अहमद)

मतलब यह कि राजनीति में इकबाल का आना इस्लामी राज्य-व्यवस्था कायम करने के मकसद से था।

इकबाल ने इस आशय के पत्र जिन्ना को भी लिखे थे। उन्होंने 3 जून, 1936 को जिन्ना को जो पत्र लिखा। उसमें लिखा है कि “भारत में शान्ति स्थापित करने एवं मुसलमानों को गैर-मुसलमानों के प्रभुत्व से बचाने का एकमात्र उपाय यही है कि मुस्लिम प्रान्तों के एक भिन्न संघ (फेडरेशन) में इस्लाम के उसूलों के मुताबिक सुधार लागू किए जाएँ। मौजूदा हालात में यह साफ दिखाई दे रहा है कि भारत में शान्ति की स्थापना जातीय (रेसल), धार्मिक और भाषायी सम्बन्धों के आधार पर देश के पुनः विभाजन (री-डिवीजन) पर निर्भर करेगी।”

30 अक्टूबर, 1937 के पत्र में इकबाल ने लिखा है—“जब तक पाँच प्रान्तों में मुसलमानों की सरकारें नहीं बन जातीं तथा बलूचिस्तान में सुधार लागू नहीं हो जाते, हमें चैन से नहीं बैठना चाहिए।” (इकबालनामा, 20, 22)।

इकबाल ने मुसलमानों की गरीबी को समाप्त करने के लिए जो हल सुझाया है, वह भी इस्लामी हल है। अपनी मृत्यु (21 अप्रैल, 1938) के कुछ महीने पूर्व (20 मई, 1937) उन्होंने जिन्ना को एक पत्र लिखा था, जिसमें जवाहरलाल नेहरू पर यह टिप्पणी है कि “जवाहरलाल का ईश्वरविहीन समाजवाद मुसलमानों पर असर नहीं कर सकता।”

“मुसलमानों को गरीबी से निजात दिलाने के लिए शरीअत (मुस्लिम धार्मिक कानून) को (हिन्दुस्तान में) लागू किया जाए तो हर इन्सान को जिन्दा रहने के लिए जरूरी चीजें मुहैया कराई जा सकती हैं।”

उनका मानना था कि मुसलमानों की गरीबी और भारत की शान्ति के लिए मैं इसे सबसे अच्छा हल मानता हूँ।

अगर ऐसा नहीं होता तो इकबाल के सामने एक ही विकल्प दिखाई देता है, और वह विकल्प गृहयुद्ध का है। उनके अनुसार “पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में यह गृहयुद्ध शुरू भी हो चुका है।” (इकबालनामा)

वैसे हिन्दू-मुस्लिम दंगों को गृह-युद्ध के रूप में आँकने को लेकर इकबाल जैसे कवि की सोच के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी यह सोच उस वक्त



के हालात की वास्तविक समझ के अभाव को सूचित करती है। वास्तविकता यह है कि पूरे अंग्रेजी राज के दौरान जितने हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए, उनमें लगभग सभी में अंग्रेजी प्रशासन के छिपे हाथ दिखाई देते हैं।

इसके सबूत के तौर पर बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर यहाँ 1931 के शुरू में काशी और कानपुर में जो भीषण दंगे हुए थे, उसे लेकर प्रेमचन्द ने जो कहा है, उसे दे रहा हूँ, उन्होंने कहा है—

“जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गई कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गई और वह कुछ न कर सकी...। साधारण बुद्धि जिस नतीजे पर पहुँची है, वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की।” (प्रेमचन्द के विचार, मार्च 1931)।

एक जगह पर इकबाल ने लिखा है कि “हिन्दू नेशनलिज्म आखिर में हमें नास्तिकता की ओर ले जाएगा।” (रिकांस्ट्रक्शन ऑफ रिलीजस थॉट इन इस्लाम)।

इकबाल के इस बयान से कौन ऐसा भारतीय होगा, जिसे हैरत नहीं होगी। ये विचार वे उस समय व्यक्त कर रहे थे, जब महात्मा गाँधी, तिलक, मालवीय आदि के साथ बहुत सारे गणमान्य नेता जो भारतीय जनमानस के हृदय सम्राट थे, जिनकी राजनीतिक प्रतिबद्धता और शुचिता के साथ उनकी धार्मिक आस्था पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता था।

इसी तरह की एक और अजीबोगरीब बात उन्होंने जिन्ना को लिखे एक पत्र में कही है। उनका मानना है कि “जवाहरलाल का समाजवाद हिन्दुओं में खूनखराबा पैदा कर देगा।” (इकबालनामा, भाग 2, पृ. 16-17)।

इस तरह के विचार के पीछे क्या कारण है, यह समझ में नहीं आता। उन्हें (उनकी तमाम विद्वत्ता के बावजूद) हिन्दुओं की सहनशीलता का ठीक अन्दाजा नहीं था। हिन्दू धर्म ने समय के साथ बाहरी और आन्तरिक अनेक परिवर्तनों को न केवल सहा है, वरन् उन्हें अपने अन्दर समाहित किया है। शताब्दियों पहले के चार्वाक से लेकर गौतम बुद्ध तक के विचार हिन्दुइज्म की मूल मान्यताओं पर ही प्रहार करते हैं। हिन्दू धर्म ने न केवल उन्हें मान्यता दी, वरन् उच्च आसन पर बिठाया है।

इकबाल के व्यक्तित्व की एक बात यह भी है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में उनका विश्वास नहीं था। 26 जुलाई, 1934 को लिखे गए अपने एक पत्र में एडवर्ड थौम्पसन को वे लिखते हैं—“आपको मालूम ही है कि लोकतन्त्र में मेरा यकीन नहीं है। किन्तु लोकतन्त्र की ओर कदम बढ़ चुका है, जो मेरे खयाल से नुकसानदेह है।” (सैयद हसन अहमद, इकबाल)।

उनका यह भी खयाल था कि लोकतन्त्र आने के बाद “राजनीतिक गड़बड़ी एवं हिन्दुइज्म का विलीनीकरण सम्भव है।”

इस तरह की आशंका का आधार क्या था, इसे इकबाल ने साफ नहीं किया है। लेकिन इस कथन में दो तरह की बातें दिखाई देती हैं—पहली यह कि लोकतन्त्र यदि आया तो देश में राजनीतिक गड़बड़ी का माहौल पैदा होगा। इससे सम्भव है उन्हें यह लग रहा हो कि भारतीय समाज चूँकि विभिन्न धर्मावलम्बियों से बना हुआ मिला-जुला समाज है, जो धार्मिक स्तर पर एक-दूसरे के विरोधी हैं, इसलिए लोकतन्त्र की स्थिति में धार्मिक विरोध राजनीतिक विरोध का कारण बन सकता है। यह विचार वैसा ही है, जैसा काँग्रेस की स्वायत्तता आदि की माँगों के जवाब में ब्रिटिश हुकूमत की ओर से कहकर ठुकराया जाता था। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दुस्तान को लेकर इकबाल की अनेक धारणाएँ अँग्रेजी सत्ता से मेल खाती थीं। उसी तरह जैसे उनके पूर्व के मुस्लिम नेता सर सैयद अहमद खाँ के विचारों की रही थी। आखिर अँग्रेजों ने उन्हें नाइटहुड की उपाधि ऐसे ही तो नहीं दी होगी।

ऊपर के कथन में जो दूसरी आशंका व्यक्त की गई है, वह यह है कि लोकतन्त्र आने से “हिन्दुइज्म का विलीनीकरण” सम्भव है।

यह कैसे? क्या लोकतन्त्र और हिन्दुइज्म एक-दूसरे के विरोधी हैं? जहाँ तक मैं समझता हूँ हिन्दू धर्म विश्व का सबसे अधिक उदारवादी धर्म है। इतिहास इस बात का गवाह है कि उसने समय-समय पर सभी तरह के मत-मतान्तरों से लेकर हर तरह की राजनीतिक परिस्थितियों को स्वीकार किया है। हर तरह के उठापटक को सहा है। यही नहीं हिन्दुइज्म की जड़ें इतनी गहरी हैं कि तमाम तरह के ऊँच-नीच को झेलते हुए भी अडिग रही हैं। अँग्रेजों ने जिन-जिन देशों में राज किया, उन देशों को ईसाई धर्मावलम्बी देश में तब्दील किया है। भारत ही एक ऐसा देश रहा, जिसे ईसाई धर्मावलम्बी देश बनाने में वे असमर्थ रहे। फिर धर्मशास्त्र के जानकार इकबाल ने इस तरह के विचार क्योंकर व्यक्त किए, इसे समझना मुश्किल है।

इकबाल 1930 में मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। उस मुस्लिम लीग के, जिसकी नींव काँग्रेस की काट के लिए और हिन्दुओं के विरोध के लिए एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करने के लिए रखी गई थी। एक अक्टूबर 1906 को आगा खान के नेतृत्व में वायसराय लार्ड मिंटो के सम्मुख जो मेमोरियल प्रस्तुत किया गया था, उसको लिखने वाला अलीगढ़ कॉलेज का अँग्रेज प्रिंसिपल था, और लिखने में मदद करने वाला वायसराय का प्राइवेट सेक्रेटरी डनलप स्मिथ था। अँग्रेजी राज के प्रति पूर्ण वफादारी इसके प्रमुख उद्देश्यों में एक थी। इसी मेमोरियल की माँगों में पृथक् मुस्लिम मतदाता मण्डल की वह कुख्यात माँग भी थी, जिसके कारण मुस्लिम राजनीति पर साम्प्रदायिकता पूरी तौर पर हावी हुई। इसी मुस्लिम लीग के 1930 में इकबाल अध्यक्ष रहे थे।

## नवलेखन की चुनौतियाँ : अभिप्राय और आयाम

नन्दलाल मेहता 'वागीश'\*

संवाद के एक सिरे पर वाक् और दूसरे सिरे पर श्रुति (श्रव्यता) होती है। ब्रह्मांडीय रचना के कारक तत्त्व-रूप में वाक् सर्वत्र व्याप्त है। समष्टि आकाश में ध्वनि-नाद और शब्द-रूप में वाक् समाहित है। वाक्, समष्टि अस्तित्व है तो श्रुति व्यष्टि-साधना है। वाक् के अनाहत नाद के सटीक श्रवण और उसके अन्तर्भूत अर्थ-तत्त्व को अधिगत कराना श्रुति की साधना है। पृथक् सत्ता के रूप में प्रतीयमान वाक् और श्रुति, तत्त्वतः एक रूप है। दोनों भेदाभेद सम्बन्ध में हैं।

संसार वाक् और श्रुति के इसी भेदाभेद सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। श्रुति के रूप में वाक् शब्द है, वाक् ही पद है। वाक् और पद को 'नाम' कहा गया है। पद का अर्थ ही पदार्थ है। पदार्थ को रूप कहा जाता है। अदृश्य-रूप विचार की पहचान भी नाम (शब्द) से होती है। स्थूल होकर वह द्रष्टव्य है और सूक्ष्म होकर भाव्य है। इस दृष्टि से इस सृष्टि को नाना नामरूपात्मक कहा गया है। वाक्-श्रुति की मनःशरीरी क्रिया का प्रत्यक्षकारी अंग है—दृश्यता। दृश्यता और दृष्टि एक हैं। दृश्यता को दार्शनिक शब्दावलि में 'रूप' कहा जाता है। नाम-श्रुति एक हैं तो दृश्यता-रूप भी एक ही हैं।

वाक्-श्रुति की युति अपनी रूपात्मकता सहित 'स्मृति' में परिणत हो जाती है। इस प्रकार वाक्-श्रुति-दृष्टि से 'स्मृति' का स्वरूप-आधान निर्मित होता है। इन तीनों अर्थात् वाक्-श्रुति-दृष्टि से मन बनता है। श्रुति की चर्चा में वाक् समाहित है। बिना श्रुति के वाक् कृतकार्य नहीं होती। इसीलिए समाहार में यह कहा जाता है कि श्रुति और दृष्टि से मन बनता है। मन ही मति है। दोनों की मूल धातु एक ही है। मति के पश्चात् चेतना में 'धृति' अवतरित होती है। मन की व्यापक शक्ति और प्रभाव के कारण 'मति' को मन की एक वृत्ति के रूप में लक्षित किया गया है। शास्त्रों में 'धृति'

\* डॉ. नन्दलाल मेहता 'वागीश', पूर्व सीनियर फैलो संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार; पता : शब्दालोक-1218, सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुडगाँव (हरियाणा); मो. 9910431699

को भी मन की एक वृत्ति के रूप में निरूपित किया गया है। मन को लक्ष्य तक पहुँचाने वाली वृत्ति को 'धृति' कहा गया है। इस मनस्तर्कणा से स्पष्ट है कि मन के गठन में जिस षष्टक-समुच्चय की संयुक्त भूमिका है, वे हैं—वाक्-श्रुति-दृष्टि-स्मृति-मति-धृति।

मन का संवादन ही शब्द है। शब्द भाषा का सघोष बीजवपन है। शास्त्र-सम्मत और मनोवैज्ञानिक सत्य यही है कि जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, उसी से हमारे मन का निर्माण होता है। सारतः यह कहा जा सकता है कि मन की सक्रियता में श्रुति, दृष्टि और स्मृति की निर्णायक भूमिका है। श्रुति-दृष्टि का जैसा रूप होगा, तदनु रूप स्मृति का भी स्वरूप होगा। लेखन की विषय-वस्तु का चयन भी वैसा ही होगा। श्रुति बीज है, स्मृति मनःअंकुरण है और लेखन लिपित वास्तु-वृक्षण है।

इसी परिप्रेक्ष्य में लेखन और साहित्यिक सर्जन के मौलिक अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। लेखन में लिख धातु है अर्थात् लिपित होना लेखन की मूल पहचान है। साहित्य शब्द की मूल धातु 'धा' है, जो धारण करने के अर्थ में व्यवहृत होती है। यह 'धार्यता' साहित्य का स्वरूपगत गुण है। साहित्य की धार्यता में संवेदनाजन्य मूल्य-चेतना निहित है। वह देश-काल की सीमाओं में आबद्ध नहीं है, जबकि लेखन में लिपिबद्धता पर्याप्त है। कोरी विचारात्मक अभिव्यक्ति लेखन के अन्तर्गत आती है। इसमें बौद्धिक अभ्यास है। इस दृष्टि से मार्क्सवादी बौद्धिक गुलाम, भारतीय कम्युनिस्टों का कथित साहित्य-सर्जन प्रचारात्मक लेखन का उत्कृष्ट उदाहरण है। साहित्य-सर्जन इस प्रकार के लेखन से उच्चतर अवस्था में है। साहित्य की सर्जनात्मकता में मानवीय विवेक-प्रेरित हृदय की भावपूर्ण अभिव्यक्ति का सौन्दर्य लक्षित होता है। प्रकारान्तर से लेखन और साहित्य-सर्जन दोनों 'धृति मन' का विषय बनते हैं। मनोयोग दोनों में अपेक्षित है। सर्जनात्मक रचना तो मन की 'मधुमती' भूमिका में अवतरित होती है। यह साधना के साथ-साथ प्रतिभा का क्षेत्र है। सर्जन-प्रक्रिया में प्रतिभा मूल है, पर प्रतिभा के फलन के लिए व्युत्पत्ति (शास्त्र-पठन) और अभ्यास हेतुओं का समंजन भी आवश्यक है।

वस्तुतः जो लेखन की चुनौतियाँ हैं कुछ वैसी ही चुनौतियाँ नवलेखन का भी हैं। वरंच, नवलेखन में अभ्यास और मार्गदर्शन की अधिक आवश्यकता है। चुनौतियों को रेखांकित करने से पहले 'नवलेखन' पद के अभिप्राय और आयामों को समझ लेना जरूरी है। कारण, कई दशक पहले से नवलेखन की चर्चा होती रही है। यह छायावादोत्तर विभिन्न वादमूलक प्रवृत्तियों का लेखन-काल है। हिन्दी-जगत् में इस समय प्रवृत्तिमूलक ऐसे साहित्यिक लेखन का ज्वार थम चुका है। इसकी पृष्ठभूमि में साहित्य के समानान्तर अभिव्यक्ति-तकनीकों का सम्प्रसार है। ऐसे में आज नवलेखन की चर्चा किसी गुणमूलक धारणा के सन्दर्भ में नहीं हो रही है। यहाँ नवलेखन से अभिप्राय उस लेखन से है, जो एक पीढ़ी पहले से नवरचना के रूप में सामने आ रहा है। गणना-दृष्टि से यह काल किसी भी रूप में सन् 2000 से पहले का नहीं कहा जा

सकता। यद्यपि ऐसा नहीं है कि इससे पहले किसी विधागत-लेखन की गुणधर्मिता की चर्चा नवलेखन-विचारणा में वर्जित है। आज भी नवगीत संज्ञा पद की चर्चा काफी समय से हो रही है। हिन्दी गजल, हाइकू और इतस्ततः प्रकाशित लघु कथाएँ भी नवता का आकर्षण बनाए हुए हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी मेरा यह मत है कि 'नवलेखन की चुनौतियाँ' का आज का सन्दर्भ निश्चित रूप से विशिष्ट कालबोधक रचना-कर्म से जुड़ा है। जिसके माध्यम से नई पीढ़ी अपनी सर्जनात्मक समझ को अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रही है।

नवलेखन की चुनौतियाँ दो प्रकार की हैं—(1) स्थूल (2) सूक्ष्म। स्थूल चुनौतियाँ अर्थ-साध्य हैं, साधन-साध्य हैं। अधिकतर चुनौतियाँ सांस्कृतिक कोटि की हैं। इन्हें सूक्ष्म के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यद्यपि इन सूक्ष्म चुनौतियों के कारक स्थूल कोटि के हैं, जैसे आज की सांस्कृतिक चुनौतियों पूर्ववर्ती शासन के अबुद्ध राजनीतिक नेताओं द्वारा अनजाने या जान-बूझकर पैदा की गई हैं। उन्हें सम्भवतः यह बोध ही नहीं है कि सांस्कृतिक चुनौतियाँ राष्ट्रीय संकट की कारक होती हैं।

सभी समाजों का यह सार्वकालिक सत्य है कि साहित्य-लेखन अपने परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यह अलग तथ्य है कि साहित्य में प्रत्यक्ष परिवेश की अभिव्यक्ति भी परोक्ष रीति से होती है। यह साहित्य का नैतिक न्याय है, पर राजनीतिक परिवेश की भी अपनी कुछ मर्यादा होनी चाहिए। कम-से-कम आज के परिवेश में भारतीय राजनीति का स्वरूप सर्वग्रासी है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् सन् 1950 के आस-पास ऐसी सरकार सत्ता में आई, जो कहने को तो भारतीय थी, उसके अनेक नेता भी संघर्ष की आँच से निकले थे, उम्र का अनुभव भी था, किन्तु जिसके शीर्ष नेतृत्व की समझ विपथगामी थी। भारतीय मन, इतिहास, परम्परा, सहिष्णुता और समाज की वैविध्यपूर्ण एकता के सूत्र से वे अनभिज्ञ थे। भारत के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' और 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' के शील-संस्कार का उन्हें बोध नहीं था। बीच के 5-7 वर्षों को छोड़कर अभी कुछ पूर्व तक भारत के शासन को उन्हीं नेता की वंशधरता हस्तगत किए हुए थी। जब जैसे-तैसे वोट पा जाना ही जिनके लिए लोकतन्त्र का अन्तिम मानक हो, उन्हें भारत राष्ट्र के शील-संस्कार से क्या लेना-देना?

'नवलेखन की चुनौतियों के रूप में जिन सूक्ष्म और स्थूल कारणों को इंगित किया जा रहा है, उन्हें राष्ट्रीय सन्दर्भ में इस प्रकार समझा जा सकता है, पर इन कारणों को तार्किक परिणति देने से पहले, एक बार फिर से यह समझ लेना आवश्यक है कि सूक्ष्म रूप में संस्कृति, भाषा, शिक्षा, जीवन-पद्धति, धर्म-सम्प्रदाय, आस्था, विश्वास और ऐतिहासिक दायित्वों के रूप में दिखाई देने वाली चुनौतियाँ कहीं-न-कहीं राजनीति की अनीतिमूलक विकृतियों और आचरण का परिणाम है। एवमृगते, इन चुनौतियों को कुछ विचारणीय बिन्दुओं में अंकित किया जा सकता है।

- (1) संवैधानिक चिन्तन के छूटे हुए अंश।
- (2) राजनीति की पतनशील व्यवस्थाएँ।
- (3) दूरदर्शनजन्य विद्रूपताएँ।
- (4) भारतीय समाज की अधूरी समझ।
- (5) राष्ट्रीय श्रव्य-दृश्य नीति का अभाव।
- (6) भारतीय भाषाओं के प्रति तिरस्कार।
- (7) भारतीय धर्म-दृष्टि की समझ का अभाव।
- (8) भारतीय इतिहास का विकृतीकरण।

भारतीय संविधान यद्यपि सम्पूर्ण सजगता-बोध और भविष्य-दृष्टि को लेकर निर्मित हुआ था तथापि कुछ पूर्ववर्ती प्रभाव और समय की ह्रस्वता के कारण भारत भाव के बहुत सारे अंश चिन्तन का विषय नहीं बन सके। आज यह प्रश्न सामान्य जन, विचारशील पुरुषों और नवोदित लेखकों के लिए चिन्ता का विषय बना हुआ है कि यदि भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में संविधान में अंकित है तो इस राष्ट्र के 'राष्ट्रजन' कौन हैं? यह कौन नहीं जानता कि हजारों वर्षों से यहाँ रहने वाले राष्ट्रजन कौन थे? आज की विषाक्त राजनीति और सामाजिक असहनशीलता के वातावरण में यद्यपि हर कथन को विवादित कर लिया जाता है, तथापि हजारों राजनीतिक असहमतियों के बावजूद कौन इस सत्य को नकार सकता है कि वेदाश्रयी धर्म-चिन्तन की मूलधारा सहित शैव, शाक्त, वैष्णव, स्मार्त, बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, गुरुमतावलम्बी अन्यान्य मतमतान्तर तत्त्व-दृष्टि से जिस भारतधर्मी समाज के अंग-उपांग हैं, उसे ही 'हिन्दू धर्म' कहा जाता है। संविधान में नागरिक, प्रवासी, आगत और विधि-विरुद्ध घुसपैठियों का उल्लेख तो है, किन्तु राष्ट्रजन कौन है, इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार नहीं हुआ। इतना ही नहीं संविधान का प्रारम्भ 'इंडिया दैट इज भारत' से होता है न कि भारत दैट इज इंडिया से। सोए हुए व्यक्ति को सही नाम से जगाया जा सकता है। इंडिया जाग रहा है और भारत सो रहा है।

इस देश की पतनशील राजनीति का प्रभाव किस क्षेत्र पर नहीं पड़ा है? कानूनी कपड़ों से नग्नता नहीं ढकी जा सकती। जब वोट ही लोकतन्त्र है, कानून है तो फिर लोकाचार को कौन पूछेगा? वोट का अर्थ होना चाहिए लोकतान्त्रिक विवेक। मजहबी फतवों से जब लोकतन्त्र के भविष्य का निर्णय होगा तो संवैधानिक धाराओं का क्या होगा? यह सब कौन करा रहा है? भारत देश का परम्परागत लोकतान्त्रिक स्वभाव, फतवा वोट की राजनीति से कहीं क्षत-विक्षत न हो जाए, राष्ट्रीय स्वात्मबोध के लिए यह दुर्दान्त चुनौती है।

यद्यपि जनसंचार माध्यम विशेषकर दूरदर्शन 'टी.वी.' राष्ट्र निर्माण में आधिकारिक भूमिका निभा सकता है, किन्तु राष्ट्रीय 'श्रव्य और दृश्य नीति' के अभाव में उस पर कोई नियन्त्रण नहीं है। स्वतन्त्र प्रेस के नाम पर इस राष्ट्र के हितों को तो पशुबलि

नहीं बनाया जा सकता। भाषा, शब्द-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कुछ तो निर्धारित होना ही चाहिए। भारतीय भाषाओं के प्रयोग में असावधानी और अँग्रेजी-प्रयोग पर विशेष अहम्मन्यता राष्ट्र के लिए शुभ नहीं है। अब तक की सरकारें मूढ़मना होकर 'श्रव्य और दृश्य' के सामाजिक महत्त्व को उपेक्षित करती रही हैं। इस अकाट्य सत्य को कौन नकार सकता है कि जो कुछ हम सुनते और देखते हैं उसी से हमारे मन का स्वरूप बनता है। अन्न और मन का चिन्तन तो बाद का है। 'दिखाने और सुनाने' वाले स्रोत ही झूठे विज्ञापनों से आपको चैन नहीं लेने देंगे तो फिर कहाँ अन्न और कहाँ मन। पदे-पदे अश्लीलता परोसने वाले इन कथित कला-माध्यमों को कैसे छूट दी जा सकती है। समाज पर दोष लगाना तो आसान है, पर क्या समाज का संचालन करने वाले यह नहीं जानते कि राष्ट्र के लिए 'श्रव्य और दृश्य' अधिष्ठान भी एक प्राथमिक धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए। सिने जगत् भी मानवीय मूल्यों के सम्प्रसारक के रूप में अपनी राष्ट्रीय भूमिका निभा सकता था। प्रारम्भ के कुछ दशकों तक वह इस तरफ सचेष्ट भी रहा, किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ऐसे निर्माता, निदेशक और फिल्मकार राष्ट्रीय महत्त्व के इस संस्थान पर हावी हो गए हैं कि 'सेक्स बेचना' उनके लिए सबसे बड़ी कला और सबसे बड़ा मूल्य है। कुछ तो इसे पारिवारिक विरासत के रूप में चर्चित कर स्वयं ही महिमामंडित हो रहे हैं।

भारतीय समाज परिवार-संस्था पर खड़ा है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य वहीं तक मान्य है, जिससे परिवार का स्वरूप विघटित न हो। कुछ राष्ट्र-विरोधी तत्त्व यह जानते हैं कि परिवार संस्था टूटेगी तो भारत भी टूटेगा। इसमें भीतर और बाहर के कई तत्त्व हैं। वयस्क बच्चों के अधिकारों के नाम पर 'युवा उत्तेजनाओं' को कानूनी संरक्षण मिल गया। सामाजिक समरसता के नाम पर थाने व्यभिचार को वैध बनाने के केन्द्र बना दिए गए। पूर्व सरकार की सोच ऐसे ही तत्त्वों से परिचालित रही। उद्देश्य यह रहा कि भेद न रहते हुए भी भेद पैदा करो। अनेक मीडिया घराने भी इसी दृष्टि से प्रभावित किए गए कि भारतधर्मी समाज के सभी अंगों को क्षत-विक्षत कर दो। पहले सिक्खों को, फिर बौद्धों को, फिर जैनियों को अलग करो, फिर आदिवासियों को। इससे भी उद्देश्य प्राप्त न हो तो भारत को जाति-समूहों, जातियों, उपजातियों और उप-उपजातियों में बाँटते रहो। इस खेल में भारतीय राजनीति के पतित पुरुषों और विदेशी शक्तियों ने खुलकर हाथ मिलाए हैं। महापुरुष पहले प्रदेशों में और फिर जाति-उपजाति में बाँट दिए गए हैं। कैसा भारतीय गौरव? अब कोई व्यक्ति समस्त भारतीय गौरव को धारण नहीं करता। बस सभी वोटर हैं। सभी की अँगुलियों पर निशान लगे हैं। भारत के लोकतन्त्र को इससे ज्यादा और क्या चाहिए?

वोटकामी राजनीति ने एक ही धर्म के विभिन्न पूरक सम्प्रदायों को रिलिजन की संज्ञा देकर एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने की नीति अपना ली। हिन्दू धर्म 'रिलिजन' नहीं, विशिष्ट जीवन-पद्धति है—भारत के सर्वोच्च न्यायालय के इस निर्णय के साथ

अब तो 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में भी धर्म और रिलिजन को पृथक् मानकर दर्ज किया गया है। भारत में धर्म अन्तर्स्वभाव और कर्तव्य के रूप में आचरित किया जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि हर व्यक्ति और हर स्थिति और वस्तु का अपना-अपना धर्म होता है। जैसे कहा जाए कि अग्नि का धर्म जलाना है तो इसका अर्थ यह नहीं कि जलाना अग्नि का रिलिजन हो गया।

भारत की 'इतिहास दृष्टि' को कलंकित करने में इस देश के मार्क्सवादी बौद्धिक गुलाम सक्रिय रहे हैं। पाकिस्तान के बनाने में उन्होंने अपना सारा बौद्धिक समर्थन कट्टर इस्लामी ताकतों को दे दिया था। उन्होंने इस देश के सर्वमान्य नेता सुभाष चन्द्र बोस को 'तोजो का कुत्ता' तक कह दिया। महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू तथा अन्य महानुभावों को भी उन्होंने नहीं बख्शा। इसलिए वे नितान्त निर्दय मुगल औरंगजेब और अन्य ऐसे अत्याचारी शासकों के कुकृत्यों में जनवाद ढूँढ़ते रहे। उनके इतिहास-कोश में मुश्किल से 15-20 शब्द हैं, जो दूसरे के प्रति तिरस्कार और गालियों के वाचक हैं।

यहाँ संक्षेप में 'नवलेखन' की वर्तमान चुनौतियों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। अब प्रश्न यह है कि नवोदित लेखक अपने सर्जन से इनका प्रतिकार कैसे करे? यहाँ 'लेखक' शब्द का प्रयोग साहित्य-सर्जक के अर्थ में है अर्थात् ऐसा लेखन जो साहित्य की कोटि में आता है। यह स्पष्ट है कि उक्त स्थूल चुनौतियों का सीधे-सीधे उल्लेख साहित्य-सर्जन में नहीं किया जा सकता, किन्तु इनके दंश की अभिव्यक्ति और उसके निरसन के लिए साहित्य की जिन विधाओं का आश्रय लिया जा सकता है, सर्जनात्मक स्तर पर वे विधाएँ हैं—काव्य, महाकाव्य, कहानी, लघुकथा और व्यंग्य-लेखन। नाटक की परम्परा सीमित हो गई है। हाँ, सर्जनात्मकता के कुछ सूत्र पकड़कर नुक्कड़ नाटक और प्रहसन लिखे और खेले जा सकते हैं। काव्यात्मक पैरोडियाँ (विडम्बन) भी लिखी जा सकती हैं, कुछ पौराणिक पात्रों के आचरण-प्रतीकों को भी वर्तमान परिवेश की संगति देकर उन्हें साहित्यिक परिहास-कटाक्ष और प्रताड़न का विषय बनाया जा सकता है। भले ही विशुद्ध मुक्तक काव्य का शील-स्वभाव मूल्य-चेतना के आकर्षण में इन विकट स्थितियों का दिग्दर्शन न करा सके पर समर्थ कवि द्वारा महाकाव्य के कथात्मक रूप-विधान में ऐसी विद्रूप स्थितियों को साहित्यिक अभिव्यक्ति दी जा सकती है। व्यंग्य कविताओं, व्यंग्य निबन्धों, कहानी-लघुकथाओं और कुछ अन्य रचना-रूपों द्वारा इन चुनौतियों को संकेतित करते हुए इनके समाधानों को सर्जनात्मक प्रस्तुति दी जा सकती है। पहल नवलेखकों पर निर्भर है, मार्गदर्शन का कार्य पूर्व परम्परा स्वयं करेगी।



## “आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी”\*\*

एम.एल. खरे\*

उपर्युक्त शीर्षक वाली पुस्तक हाल ही (2015) में प्रकाशित हुई है। पुस्तक में लेखकद्वय ने जो कुछ कहा है वह तथाकथित सेक्यूलरवादियों की बखिया उधेड़ता है। हिन्दुओं को कैसे भी ईसाई, मुसलमान या नास्तिक बनाने के जो प्रयत्न होते आए हैं और हो रहे हैं, उन्हें विद्वान लेखकों ने आध्यात्मिक आक्रमण की संज्ञा दी है। पुस्तक में जो जानकारी दी गई है, वह आँखें खोलने वाली है। हिन्दुओं का धर्मान्तरण कराने के सुनियोजित कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं और शताब्दियों से चलाए जाते रहे हैं, उनका खुलासा इस पुस्तक में किया गया है। वर्तमान में यह आक्रमण तीन तरफा है। एक ईसाई मिशनरियों द्वारा, दूसरा इस्लाम के झण्डावरदारों द्वारा और तीसरा हमारे ही वामपन्थी बुद्धिजीवियों द्वारा।

पुस्तक का प्रथम अध्याय ‘मिशनरी आक्रमण और म्यूनिख भावना’ नाम से है। इसमें ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दू देवी-देवताओं के बारे में कैसा अनर्गल और घृणास्पद प्रचार किया जाता है, इसका वर्णन है। देवताओं के लिए अश्लील भाषा का प्रयोग करके, उन्हें दलित विरोधी बनाकर हमारे दलितों को हिंदू-विरोधी बनाकर उन्हें लालच और जोर जबरदस्ती से ईसाई बनाने का षड्यंत्र चला आ रहा है। पाँचवें अध्याय में तमिलनाडु के ‘सेवेन्थ एडवेंटेस्ट’ चर्च के कारनामों का वर्णन है। लेखक कहते हैं कि सेवेन्थ एडवेंटेस्ट की नजर में गैर-ईसाइयों का धर्मान्तरण कराना ही ईसाई जीवन का केन्द्र बिन्दु है। ईसाई यान पालसिन के अनुसार स्कूल, अस्पताल चलाने जैसे विकास कार्यों में जब धर्मान्तरण उद्देश्य जुड़ता है, तभी वह मिशन है, नहीं तो बेकार।

\*सम्पर्क : एफ-2, ऋषि अपार्टमेंट, ई-6/124, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016

\*\*आध्यात्मिक आक्रमण और घर वापसी, लेखक शंकर शरण, विजय कुमार, अक्षय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 211, मूल्य : 300

मिशनरी धर्मान्तरण फिर भी उतना उग्र और क्रूर नहीं है जितना हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की जोर-जबरदस्ती। इस्लाम का एक ही आदेश है कि जो इस्लाम कबूल न करे, उसे मौत के घाट उतार दो। आज इसका बीभत्स रूप इस्लामी आतंकवाद के रूप में फैल रहा है। तालिबान, अलकायदा, बोकोहराम, मुजाहिद्दीन आदि अनेक नामों से यह आतंकवाद कहर ढा रहा है। इस्लामी आतंकवाद के मूल में जो मानसिकता है उसके मूल स्रोत का पर्दाफाश इस पुस्तक में बड़े तर्कसंगत ढंग से, सप्रमाण किया गया है। लेखकों ने बहुत अध्ययन मनन के पश्चात् तथ्यों का सटीक आकलन किया है। पुस्तक में यह उल्लेख भी है कि इस्लामी अत्याचार के विरुद्ध स्वर अब तो कुछ प्रबुद्ध मुसलमानों, विशेषतः मुस्लिम स्त्रियों द्वारा उठ रहे हैं, क्योंकि इस्लाम के नाम पर सर्वाधिक अत्याचार स्त्रियों पर होता है। पुस्तक पढ़ने से ऐसा लगता है कि मुसलमानों की कूप मण्डूकता यदि कोई दूर कर सकता है, तो मुस्लिम महिलाएँ ही। लेखकों ने ऐसी महिलाओं के प्रपत्रों-आलेखों का गहन अध्ययन किया है।

पुस्तक का शीर्षक आध्यात्मिक आक्रमण कुछ अटपटा-सा लगता है। किसी भी आक्रमण में कोई आध्यात्मिकता नहीं होती। इसे धार्मिक आक्रमण भी नहीं कह सकते। यह तो सीधा-सीधा हिन्दू धर्म पर आक्रमण है। किन्तु यदि शीर्षक 'हिन्दू धर्म पर आक्रमण' दिया जाता तो पुस्तक तथाकथित सेक्यूलरवादियों के लिए अस्पृश्य हो जाती। इसमें उन्हें भगवा रंग दिखाई देता। शायद यह सोचकर विद्वान लेखकों ने आध्यात्मिक आक्रमण कहा। अस्तु।

घर वापसी के अध्याय में कुछ अस्पष्टता है। कहा गया है कि मुसलमानों को इस्लाम के आदेश नहीं मानना चाहिए, भले ही वे मुसलमान बने रहें, नमाज पढ़ें, हज करें। किन्तु मुस्लिम शब्द का अर्थ ही है इस्लाम को मानने वाला। फिर यदि वे मुसलमान (उदार) बने रहते हैं, तो घर वापसी का क्या अर्थ है? सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि घर वापसी हिन्दू जातिवादी ढाँचे में कैसे फिट हो? इस पर लेखकद्वय कुछ सार्थक सुझाव देते तो और अच्छा होता।

बहरहाल पुस्तक गहन अध्ययन, परिश्रम और शोध के पश्चात् लिखी गई है। लेखकों का साहस सराहनीय है जो फतवेबाजी से निडर होकर उन्होंने यह रचना की। इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक पठनीय है और सोचने को मजबूर करती है। यह प्रत्येक हिन्दू को अवश्य पढ़नी चाहिए तथा उन भारतीय मुसलमानों को भी जिन्हें पुस्तक में सीरियाई लेखिका डॉ. वफा सुलतान के हवाले से 'लेस डैमेज्ड' कहा गया है।

## प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका\*\*

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार\*

डॉ. मिथिलेश दीक्षित के सम्पादन में सद्यः प्रकाशित कृति का शीर्षक है “प्रेमचन्द साहित्य विशेषज्ञ : डॉ. कमल किशोर गोयनका”। यह पुस्तक अभी हाल ही में उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर से प्रकाशित हुई है। डॉ. गोयनका देश के एक ऐसे चिन्तक एवं आलोचक हैं, जिन्होंने अपनी उम्र का आधा हिस्सा प्रेमचन्द साहित्य की खोजबीन और प्रेमचन्द साहित्य के नए तथ्यों को उद्घाटित करने में लगा दिया एवं उनका प्रेमचन्द साहित्य की खोज का यह सिलसिला आज भी निरन्तर जारी है।

प्रस्तुत पुस्तक में देश के प्रतिष्ठित आलोचकों और चिन्तकों के 40 शोधालम्बक, समीक्षात्मक आलेख प्रकाशित किए गए हैं। ये आलेख डॉ. दीक्षित ने वर्ष 2013 में डॉ. गोयनका के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में हीरक जयन्ती वर्ष के रूप में याद करने हेतु विभिन्न विद्वानों और आलोचकों से लिखवाए थे। इन आलेखों में लेखकों ने अपने-अपने तरीके से डॉ. गोयनका के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के रूप को बारीकी से समेटकर पाठकों हेतु प्रस्तुत किया है।

यह पुस्तक अपने तैयार होने के कई वर्षों बाद प्रकाशित हुई है। इस का प्रकाशन कई कारणों से टलता रहा। इस सम्बन्ध में पुस्तक की सम्पादिका डॉ. दीक्षित स्वीकार करती हैं कि “ग्रन्थ रूप में प्रस्तुति हेतु मेरे पास सामग्री आ गई थी, परन्तु

\*कृष्ण वीर सिंह सिकरवार, आवास क्रमांक एच-39, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट वायपास रोड, भोपाल-462053 (म. प्र.), मो. 09826583363

\*\*गोयनका सम्पादक : डॉ. मिथिलेश दीक्षित, प्रकाशक—उत्कर्ष पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, ए-685, आवास विकास, हंसपुरम्, कानपुरम-21, मूल्य-595 (हार्डबाउण्ड संस्करण), प्रथम संस्करण-2015, पृष्ठ-216

मैं डॉ. गोयनका के समग्र अनुसन्धानिक और समीक्षात्मक साहित्य के साथ उनके जीवन एवं व्यक्तित्व से सम्बन्धित जानकारी, उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, विभिन्न सन्दर्भों में लिए गए फोटोग्राफ्स आदि के साथ चाहती थी और इस ग्रन्थ को दो भागों में प्रस्तुत करना था, परन्तु डॉ. गोयनका जी की अत्यधिक व्यस्तता के कारण मैं सामग्री उपलब्ध नहीं कर पाई।” (भूमिका)

शोध की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि जो सामग्री इस पुस्तक में दी गई है, वह अन्य जगह देखने को नहीं मिलेगी। इसके समस्त आलेख पठनीय और रोचक हैं, जो प्रेमचन्द साहित्य का विशद् विश्लेषण करते हैं।

शोधात्मक आलेखों के साथ-साथ डॉ. गोयनका की विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा भी इस ग्रन्थ में शामिल कर ली गई है। डॉ. गोयनका के साहित्य और प्रेमचन्द साहित्य में जो पाठक रुचि रखता हो उसके लिए 216 पृष्ठों की यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः पाठकों को एक बार अवश्य इस पुस्तक को देखना चाहिए।

इस पुस्तक के अन्त में डॉ. दीक्षित द्वारा डॉ. गोयनका का लिया गया एक लम्बा साक्षात्कार भी शामिल किया गया है, जो पुस्तक की गरिमा को और बढ़ाता है। इस साक्षात्कार में डॉ. गोयनका द्वारा दी गई कई महत्त्वपूर्ण जानकारी ऐसी हैं, जिनसे पाठक अभी तक अनभिज्ञ रहे हैं। अन्त में डॉ. गोयनका के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद् विश्लेषण दिया गया है, जो पाठकों हेतु अमूल्य निधि है। इसमें डॉ. गोयनका का जीवन परिचय, प्रेमचन्द सम्बन्धी उनका कार्य, प्रेमचन्द पर प्रकाशित उनकी पुस्तकें, प्रेमचन्द पर प्रकाशनाधीन पुस्तकें, संस्थाओं से डॉ. गोयनका का सम्बन्ध, मॉरीशस में हिन्दी साहित्य के विकास के लिए कार्य, अमेरिका, इंग्लैण्ड, चीन, जापान, सूरीनाम, फिजी, ट्रिनिनाद आदि देशों के हिन्दी साहित्य में विकास की योजनाएँ, डॉ. गोयनका को अभी तक मिले पुरस्कार एवं सम्मान का ब्यौरा आदि की जानकारी दी गई है।

पुस्तक की साज-सज्जा और गेट-अप अति उत्तम है। इसका आवरण पृष्ठ इसकी खूबसूरती को और भी बढ़ावा है। इसकी छपाई उम्दा और पेपर क्वालिटी भी बहुत बेहतरीन है। मुद्रण की अशुद्धियाँ भी न के बराबर हैं, इस कारण पाठक को पुस्तक पढ़ने में कठिनाई उत्पन्न नहीं होती है। अतः इसका सभी जगह स्वागत होना चाहिए तथा प्रेमचन्द साहित्य में जिज्ञासा रखने वाले समस्त पाठकों को इससे लाभ उठाना चाहिए।

## पाठकीय प्रतिक्रिया

---

‘चिन्तन-सृजन’ ऐसी पत्रिका है, जो एक तरह से मेरा संदर्भ साथी है। क्या राजनीति साहित्य, क्या दर्शन, क्या सांप्रतिक जनतंत्र की समस्याएँ, क्या इतिहास सब इसमें समानिष्ट है।

कभी धनबाद से बाहर रहा तो इसे नहीं पढ़ने का मलाल रह जाता है। फिर मेरा उद्गार भी आप तक नहीं पहुँच पाता है।

मैं अभी तक जानता था विमर्श का अर्थ, Discourse, समीक्षा, आलोचना, मीमांसा; परंतु आपने ‘विमर्श’ की जड़ता पर संपादकीय क्या लिखा इस संबंध में मेरी सारी जड़ता मिट गई। इस पर एक लेख भी दे दिया आपने। ‘ब्युटिफुल ट्री’ (धर्मपाल की शोध-कृति) ब्रिटिशपूर्व शिक्षा-व्यवस्था की गहरी पड़ताल करती है। इसमें स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों का जातिगत व्यौरा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा का प्रकाश बंगाल एवं तमिल जिलों के विद्यालयों में फैला था, जिसमें तथाकथित ऊँची जातियों (ब्राह्मण, चेट्टियार एवं वैश्य जातियों के मात्र साढ़े पैंतीस प्रतिशत छात्र ही पढ़ते थे। भारत में हजार साल पहले आए अल-बेरूनी ने हिंदुओं की चार जातियों का उल्लेख किया है, जो एक साथ मिलकर भोजन करते थे। बाद में तुर्कों के आक्रमण के कारण जातियों की संख्या में अनपेक्षित बढ़ोतरी आई और अस्पृश्यता का व्यापक ‘प्रचार’ प्रसार हुआ। जातिगत एकता, सौमनस्य, सौहार्द का उल्लेख विमर्श से गायब है। यही भेद, संघर्ष, द्वन्द्व और अलगावका कारण रहा। इस ओर ध्यान नहीं दिया गया कि अंग्रेजों ने इसे अपनी जमीन, बिरासत और मौलिकता से बेदखल करने के लिए हमारी कला, शिल्प को नष्ट कर दिया। डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे ने विमर्श की शोधात्मक विवेचना की है। इसकी इतनी व्यापक विवेचना पढ़ने का सौभाग्य मुझे आज तक मिला नहीं था। नारी विमर्श, कविता में दलित विमर्श आदि पर मैं कई शोधोपजीव्य लेख लिख चुका हूँ। उन्होंने ‘विमर्श’ की तात्त्विक विवेचना करते हुए बताया है कि उसमें पाँच घटक वांछनीय हैं (क) संबंधित दर्शन, विचार की गंभीर चर्चा (ख) संदर्भित विषय पर विचार आलोचना (ग) व्यक्ति के मानवाधिकारों की माँग से प्रारंभ करना और (घ) विमर्श सामुदायिक अस्मिता से अवश्य जुड़ा हो। यह लेख लेखकों, व्याख्याकारों का दिशा दर्शक है।

डॉ. गोयनका का संस्मरण उनके शील सौजन्य, प्रकांड पांडित्य एक अनुसंधित होने का प्रबल और ऐतिहासिक प्रमाण है। प्रेमचंद को विश्व के पटल पर स्थापित करने का श्रेय उन्हें है। मित्रवत्सल इतने हैं कि इलाहाबाद में मेरे आग्रह पर तत्काल रणजीत साह के 'प्रेमचंद संचयन' (उनके और निर्मल वर्मा द्वारा संपादित) की एक प्रति मुझे देने के लिए लिख दिया। गद्य में क्षण-क्षण मुझे दिशा-दर्शन कराता है। डॉ. माधुरी नाथ की कृतियों की डॉ. सूरिदेव ने भूरी-भूरी प्रशंसा की है। विदेश यात्रा का इतना रोचक वर्णन, प्रामाणिक भी, दुर्लभ है। डॉ. सूरिदेव मेरे गुरुतुल्य हैं। उनका वर्ण वर्ण मेरी प्रेरणा का श्रोत है। डॉ. विजय बहादुर सिंह ने स्वाधीनता आंदोलन के पहले पाठ का प्रारंभ चंपारण को माना है। वहाँ उन्होंने तत्कालीन कानूनों के आधार पर ही निलहे गोरों के खिलाफ सबूत जुटाए, मुकदमा लड़ा, जिसमें आर्थिक मदद बंबई के मित्रों और रंगून निवासी डॉ. प्राणजीवन मेहता ने की (पृ. 55) यह लेख स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी और चंपारण की भूमिका का मुकमूल दस्तावेज है। आचार्य शास्त्री जी से कई बार मुझे मिलने का सौभाग्य मिला है। सचमुच वह गंगा की निर्मलता, पावनता, के प्रतीक मनीषी हैं, जिन पर इस देश को गौरव है। डॉ. गोयनका रमते हैं तो शैली रोचक, वह निकली और 'सद्यः फल पेखिय तत्काला।' हो जाती है।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, बृन्दावन, राजेन्द्र पथ,  
धनबाद-826001, झारखण्ड, मो. 82969875286.

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

आधुनिक हिंदी गद्य में समकालीन सच, संपादक: प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, प्रकाशक: समीक्षा प्रकाशन, जे.के. मार्केट छोटी कल्याणी, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), प्रथम संस्करण: 2012, पृष्ठ: 176, मूल्य: 250.00 रुपये।

मुझे कुछ कहना है, संपादक : डॉ. रामनिवास साहू, प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन, ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, प्रथम संस्करण : 2017, पृष्ठ: 192, मूल्य: 395.00 रुपये।

**केन्द्रीय हिंदी संस्थान**  
**मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार**  
संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684,  
वेबसाइट: [www.indisansthan.org](http://www.indisansthan.org), [www.khsindia.org](http://www.khsindia.org)

**संक्षिप्त परिचय**

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसंधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

**संस्था के प्रमुख उद्देश्य**

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थानों के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

**संस्थान के कार्य**

शिक्षणपरक कार्यक्रम : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

अनुसंधानपरक कार्यक्रम : (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी

भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास: (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (i) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन: हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय: भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय: हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ: ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के., मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरेशन परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका  
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल  
ई-मेल: kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय  
निदेशक  
ई-मेल: nkpandey65@gmail.com  
directorofkhs@yahoo.co.in